प्रेरक बोधकथाएँ

[विचित्र-विविध नैसर्गिक पदार्थों के संवादों की विशेषताओं तथा उपयोगिताओं की शिक्षाप्रद कहानियाँ]

•

लेखक

(स्व०) महात्मा भगवानदीन

•

उपस्थापना

डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव, पटना

•

सम्पादन-संकलन

जमनालाल जैन

अभय कुटीर, सारनाथ

प्रकाशक

शुचिता प्रकाशन

अभय कुटीर, सारनाथ

२००५

पुस्तक : **प्रेरक बोधकथाएँ**

●

लेखक : **महात्मा भगवानदीन**

●

प्रकाशक :
डॉ० अभय कुमार जैन
शुचिता प्रकाशन
अभय कुटीर, सारनाथ
वाराणसी-२२१ ००७
फोन : ०५४२-२५९५६२१

●

संस्करण : प्रथम
प्रतियाँ : १०००
दिसम्बर, २००५

●

मूल्य : ३०.०० (तीस रुपये)

●

चित्रांकन :
आशीष सिंह

●

अक्षर-संयोजन :
आर०के० कम्प्यूटर एण्ड प्रिंटर्स
सर्व सेवा संघ-परिसर
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१

●

मुद्रक :
सत्तनाम प्रिंटिग प्रेस
नई बस्ती, पाण्डेयपुर
वाराणसी, फोन : २५८५४३२

प्राप्ति-स्थान

१. **सर्व सेवा संघ-प्रकाशन**
राजघाट, वाराणसी-२२१ ००१

२. **अनेकान्त स्वाध्याय मन्दिर**
रामनगर रोड, पानी टंकी के पास
वर्धा-४४२ ००१ (महाराष्ट्र)

३. **डॉ. रतनचन्द पहाड़ी**
नेताजी चौक, कामठी
नागपुर-४४१ ००२

४. **श्री शांतिलाल बड़जाते**
संजय अपार्टमेंट, २७४, धरमपेठ
एक्सटेंशन, धरमपेठ,
नागपुर-४४० ०१०

अनुक्रम



ये बोलती बोधकथाएँ

छोटी-छोटी तथा बोधप्रद सैंतीस कथाओं की यह पुस्तिका पाठकों को, खासकर युवा-वर्ग को स्वतन्त्र चिन्तन की प्रेरणा देने में निश्चय ही सहायक होगी, ऐसा हमारा विश्वास है।

महात्मा भगवानदीनजी विज्ञाननिष्ठ तत्त्ववेत्ता और स्वतन्त्र चिन्तक थे। कर्म और ज्ञान का एकरूप होना ही उनकी दृष्टि में अध्यात्म था। राजनीति के क्षेत्र में वे गांधीजी के सहयोगी थे। नागपुर में उन्होंने 'असहयोग आश्रम' स्थापित किया था और वहीं उन्होंने १९२३ में झण्डा सत्याग्रह किया था।

तात्त्विक या दार्शनिक परम्पराओं, सिद्धान्तों की समस्याओं तथा अन्तर्विरोधों पर उनकी कुछ रचनाएँ यत्र-तत्र प्रकाशित हुई हैं। उन्होंने कथा-कहानियों के माध्यम से भी ललित साहित्य का सृजन किया है। ग्रहों तथा मनोविज्ञान पर भी उन्होंने कलम चलायी है। यह बोधकथात्मक रचना उन्होंने फरवरी सन् १९६० ई. में लिखी थीं। लगभग ४५ वर्ष पूर्व लिखी गयी ये कथाएँ अब प्रकाशित करते हुए हमें तो प्रसन्नता हो ही रही है, किशोर और समझदार पाठक भी एक प्रकार का अद्‍भुत आनन्द अनुभव करेंगे, ऐसी आशा है।

अपने परम प्रिय मित्र नागपुर निवासी भाई शान्तिलालजी बड़जाते भी महात्माजी के परिवार से, उनके विचारों से जुड़े रहे हैं। उनकी भी भावना है कि महात्माजी के स्वतन्त्र विचारों की प्रसादी आम पाठकों को प्राप्त हो।

मैं आश्वस्त हूँ 'देखन में छोटे लगें, घाव करे गंभीर' जैसी यह लघु पुस्तिका पाठकों को स्वतन्त्र विचार करने की नयी और नैतिक दृष्टि प्रदान करेगी।

हमारे अनुरोध पर सुप्रसिद्ध चिन्तक तथा विद्वान् डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव ने अस्वस्थ होते हुए भी, समय निकालकर 'उपस्थापना' लिखी, यह उनका स्नेहाशीर्वाद प्रकाशक के लिए उत्साहवर्धक है।

हमारे मित्र उदारहृदय प्रो. भाई शान्तिलालजी बड़जाते नागपुर ने, महात्मा जी की 'सत्य और जीवन' पुस्तक की भाँति इस पुस्तक के लिए भी सहयोग प्रदान किया है। यह उन्हीं की रुचि का, विचार और जागृति का कार्य है, अत: वे आभार या धन्यवाद भी स्वीकार नहीं करेंगे। इसी प्रकार स्वतन्त्रता-सेनानी, हमारे अनन्य सखा और सम्बन्धी प्राकृतिक चिकित्सक डॉ. रतनचन्दजी पहाड़ी, कामठी (नागपुर) ने भी सहज भाव से इस शुभ, जनहितैषी, शिक्षाप्रद कार्य के लिए आर्थिक सहयोग प्रदान किया है।

चातुर्मासिक पत्रिका 'शोधादर्श' के सम्पादक श्री रमाकान्तजी जैन ने 'गुरुगुणकीर्तन' के अन्तर्गत महात्मा भगवानदीनजी का जीवन-परिचय दिया है। श्री रमाकान्तजी सुप्रसिद्ध इतिहासविद् ज्योतिप्रसादजी जैन के पुत्र हैं तथा स्वतंत्र चिन्तक, यथार्थवादी विश्लेषक तथा सुकवि हैं। उनका यह गुणकीर्तन परक आलेख यहाँ दिया जा रहा है।

सारनाथ निवासी चित्रकला के होनहार युवक श्री आशीष सिंह ने इन कथाओं के लिए रेखाचित्र स्वयं प्रेरणा से बनाये हैं। वह जीवन में प्रतिभाशाली कलाविज्ञ स्थान प्राप्त करे, इस शुभाकांक्षा के साथ अनेक आशीर्वाद।

आशा है, नयी पीढ़ी का युवा-वर्ग, इन बोधकथाओं के तर्कसंगत संवादों से प्रकृति और सृष्टि की छिपी हुई समानान्तर सचाइयों को अधिक स्पष्टता और खुले दिल-दिमाग से ग्रहण करेगा। अशेष धन्यवाद।

□ जमनालाल जैन

उपस्थापना

कथा-साहित्य के अन्तर्गत कहानी सर्वलोकप्रिय विधा है। कहानी की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है और इसका प्राचीनतम रूप 'कथा' है। 'कथा' से ही निष्पन्न 'कथन' या 'कथनी' शब्द का विकसित रूप 'कहानी' है। कथा की परम्परा में नीति-कथाओं या बोध-कथाओं का अपना वैशिष्ट्य और ऐतिहासिक महत्त्व है। नीति-कथाओं की उल्लेख्य विशेषता यह है कि इनमें कथा-विकास के लिए अपनाये जाने वाले प्राकृतिक उपादानों, जैसे—पशु, पक्षी, वृक्ष, लता, वन, पर्वत, नदी आदि या फिर मानवोपयोगी विभिन्न भौतिक साधनों के मानवीकरण की प्रधानता रहती है, अर्थात् इन उपादानों पर मानव-व्यापारों का आरोप किया जाता है। नीति-कथाओं या बोध-कथाओं का प्रमुख उद्देश्य होता है—नैतिक या बौद्धिक शिक्षा देना। इनमें कथा-शिल्प के विनिवेश की अपेक्षा नैतिक या बौद्धिक विषयों के समर्थन पर अधिक बल दिया जाता है। नीति-कथा से बोध-कथा या उपदेश-कथा की समान अर्थ-व्यंजना होती है।

यशोधन कथा-लेखक महात्मा भगवानदीन की नैतिक या औपदेशिक कहानियों को 'बोधकथा' शब्द से संज्ञित करना सही होगा। इनकी इस संग्रह-कृति की कथाओं को इसके विद्या-वयोवृद्ध एवं शास्त्रसिद्ध अनुभवी सम्पादक श्री जमनालाल जैन ने भी 'बोधकथा' शब्द से ही अभिहित किया है।

प्रस्तुत कृति में भगवानदीनजी की सैंतीस बोधकथाएँ सम्मिलित हैं, जिनमें यथाप्रथित पशु-पक्षी आदि जंगम प्राकृतिक उपादानों की अपेक्षा कलम-दावात, बाँसुरी-खंजरी-ढोलक, कंघी-शीशा, मिट्टी का ढेला, बल्ब और बैटरी, जूता-टोपी, पत्थर और मूरत, नाव और गाड़ी, लकड़ी और मेज, आग-पानी, कली और फूल, तिनका और गुब्बारा, पतिंगा, छाछ और मक्खन, खजूर और आम, जौ और शराब, कमल और सूरज, गुलाब और चमेली, फूल और आदमी आदि जैसी चराचर वस्तुओं का कथापात्र के रूप में विन्यास हुआ है और कुछ

कहानियाँ, जैसे 'कंजूसी और उदारता', 'अनोखी सचाई', 'सीख का लेन-देन', 'अपनी-अपनी सूझ', 'स्वाधीनता स्वप्न बन गई', 'कर्मयोग', 'दिन और रात' आदि विशुद्ध औपदेशिक कथातत्त्वों के सघन ताने-बाने से बुनी गई हैं। इस प्रकार यथासंकलित बोधकथाएँ अपने प्रौढि-प्रकर्ष के कारण अतिशय उत्कृष्ट कथा-साहित्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये कहानियाँ न केवल बाल-वर्ग अपितु समस्त शिक्षित कथानुरागी जनों की रुचि को परिष्कृत करनेवाली, साथ ही असत् से सत् की ओर जाने की प्रेरणा देनेवाली हैं।

दीनजी की बोधकथाएँ विषयवस्तु और भाषा-शैली दोनों दृष्टियों से सरल और ग्राह्य हैं। इनके आकार-प्रकार भी बहुव्यस्त प्रबुद्ध पाठकों के लिए स्वल्प-समय-साध्य है। साथ ही, इन कथाओं में निहित भावनात्मक विचार-वैशिष्ट्य एक प्रभावोत्पादक मनोवैज्ञानिक वातावरण की सृष्टि करता है। इन कहानियों के सम्बन्ध में यह कहना सही होगा कि ये 'मातेव रक्षति पितेव हिते नियुङ्क्ते' उक्ति को सार्थक करती हैं और चारित्रिक विकास के विस्तार के निर्माण में भी सहायक हैं। कथाओं में चरित्र-निर्माण के तत्त्वों का ही सर्वाधिक महत्त्व होता है।

दीनजी की मानवीकृत मानवेतर पात्रों पर आधृत बोधकथाओं के वर्ण्य-वर्णन में अद्‌भुत प्राण-प्रतिष्ठा हुई है, जिसमें प्रेरणा का चैतन्य अजस्र भाव से प्रवाहित है। इन कथाओं में सर्जित संसार कृत्रिम नहीं, अपितु सच्चा लगता है, साथ ही इनमें वर्णन की सहजता और चरित्र-चित्रणगत चेतनता का प्रभावकारी प्रवाह है। संक्षेप में कहें तो, छोटी कहानियों में बोधकथाओं की लोकप्रियता गुणाढ्‌य (बृहत्कथा), सोमदेव (कथासरित्सागर) और संघदासगणी (वसुदेवहिण्डी) जैसे ऐतिहासिक बोधकथा-लेखकों के समय से ही रही है। छोटी बोधकथाओं की यह लोकप्रियता द्रुतगति से धावमान आधुनिक सभ्यता की ही साहित्यिक प्रतिक्रिया है। युग की आकांक्षा जैन, बौद्ध या फिर वैदिक औपदेशिक कथाओं जैसी साधारण कोटि की कथा-रचनाओं से ही पूरी होती है। इस आकांक्षा की पूर्त्ति की ओर ध्यान देने के लिए महात्मा भगवानदीनजी जैसे कथाकोविद भी बाध्य हुए हैं। यद्यपि इनकी छोटी बोधकथाएँ केवल

आकांक्षापूर्त्ति का ही साधन नहीं रह गई हैं, वरन् कथा-जगत् की विशिष्ट कलाकृति भी बन गई हैं।

इन बोधकथाओं में वर्णित मानव-जीवन की साधारण बातों में भी असाधारण तत्त्वों का विस्मयकारी विनिवेश हुआ है। दूसरे शब्दों में कहें तो, आये दिन की बातों, अनुभवों और घटनाओं को, छोटे पैमाने पर, अधिकांशत: कल्पना-प्रसूत वस्तुओं के माध्यम से उजागर करने के लिए बहुश्रुत कथा-लेखक ने ऊँचे दरजे की कारुकारिता दिखलाने का श्लाघ्य प्रयत्न किया है।

इस कृति में यथासंकलित बोधकथाओं में समसामयिक सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं धार्मिक संगत-असंगत व्यवस्था का जो जीवन्त चित्रण हुआ है, उसे पढ़ने में कथा-पाठकों को अधिक-से-अधिक अभिरुचि होगी; क्योंकि इस कथाकृति को पठनीय और रक्षणीय बनाये रखने के लिए प्रज्ञाप्रौढ़ सिद्धहस्त कथालेखक ने अपने महनीय विचारों के प्रकार-प्ररूपण तथा उसके समीचीन संयोजन एवं कथावस्तु की प्राय: संवाद-शैली में पुष्ट परिगुम्फन की विधि में रुचिर-रोचक कथ्य, रमणीय शिल्प और कमनीय कल्पना का सौष्ठवपूर्ण समन्वय किया है।

इस कथाकृति के विद्वान् एवं तत्त्वज्ञ सम्पादक श्री जमनालालजी ने हिन्दी के कथा-साहित्य के साभिनिवेश अध्येता पाठकों का महान् उपकार किया है। अवश्य ही उन पाठकों को महात्मा भगवानदीनजी की इन कथाओं में 'पंचतन्त्र' आदि की नीतिकथाओं से सर्वथा भिन्न, अनास्वादित-पूर्व आस्वाद प्राप्त होगा। 'तन्मे मन: शिवसङ्कल्पमस्तु।'

पटना (बिहार)

श्रीरंजन सूरिदेव

(डॉ० श्रीरंजन सूरिदेव)

महात्माजी का पारिवारिक परिचय

नाम : भगवानदीन, **जन्म** : ११ मई १८८४; **ग्राम** : अतरौली (अलीगढ़)

पिता : गंगारामजी मित्तल

पुत्र : वीरेन्द्र कुमार जैन; **पत्नी** : श्रीमती कृष्णादेवी (दोनों दिवंगत)

पौत्र : १. दिनेशकुमार, २. (स्व०) अखिलेश कुमार

पौत्रवधू : श्रीमती बीना जैन

पौत्र की सन्तानें : १. श्रीमती दीप्ति सन्दीप जैन,
२. श्रीमती शेफाली नवीनचन्द्र जैन

गृहत्याग : रेल्वे की नौकरी छोड़कर सांसारिक जीवन त्यागा।

१९११ : हस्तिनापुर (मेरठ) में ११ मई को ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम गुरुकुल की स्थापना।

१९१८ : गुरुकुल से मुक्त और राष्ट्रीय आन्दोलन में सक्रिय।

१९२० : नागपुर में असहयोग आश्रम की स्थापना।

१९२१ : तत्कालीन मध्यप्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष।

१९२३ : नागपुर में झंडा-सत्याग्रह के कर्णधार।
बाद में पं० सुन्दरलालजी के साथ इलाहाबाद में निवास और 'विश्ववाणी' तथा 'नया हिन्द' पत्रिकाओं के संपादन में सहयोग। कई बार जेलयात्राएँ।

१९४७ से : नागपुर में स्थायी निवास।

१९५१ : जैन जगत मासिक को अपने क्रांतिकारी विचारों से सहयोग। वर्ष के अन्त में लगभग दो माह वर्धा में।

१९५७ तथा '६० : वाराणसी में जमनालाल जैन के यहाँ कुछ समय निवास।

१९५९ : प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसादजी द्वारा नागपुर में १३ अगस्त को सार्वजनिक अभिनन्दन तथा २५ हजार की थैली अर्पण।

१९८२ : पौत्र अखिलेश कुमार एम. टेक का विवाहोपरान्त २५.११.१९८२ को असामयिक अवसान।

१९६२ : ४ नवंबर १९६२ को दमे की लंबी बीमारी के बाद ७८ वर्ष की अवस्था में, नागपुर में निधन।

वर्तमान पता: श्री दिनेश कुमार जैन, २०६, ध्यान वैष्णवी अपार्टमेंट, तोमरमार्ग, गिरिपेठ, नागपुर-४४० ०१०

■



श्री शान्तिलाल

दानवीर जैन-संस्कृति संरक्षक

श्री शान्तिलाल बड़जाते

(संक्षिप्त-परिचय)



स्व० शशिप्रभा (पत्नी)

श्री शान्तिलालजी बड़जात्या नागपुर के परिचय के लिए किसी सहारे की या किसी प्रसिद्ध पुरुष के रिश्ते से जोड़ने की जरूरत नहीं है। उन्होंने अपना बहुमुखी विकास अपनी श्रम-साधना व अध्यवसाय से, धर्म-श्रद्धा और निष्ठा से किया है। श्री शांतिलालजी का जन्म विदर्भ के बुलढाणा नगर में २०५.१९३५ को हुआ। दैवयोग



संजय बड़जात्या (पुत्र)



सौ मधु (पुत्रवधु)



अनुज बडजात्या (पुत्र)



सौ प्रीति बड़जात्या (पुत्रवधु)



कु आपेशा (पौत्री)



कु मल्लिका (पौत्री)



चि तुषार (पौत्र)



चि गैनक (पौत्र)

से जब शांतिलालजी मात्र ७ वर्ष के बालक थे, पिता श्री सूरजमलजी का निधन फरवरी १९४२ में हो गया। इनके बड़े भाई गेंदालालजी भी बालक ही थे। वर्धा में कुंदनमल चंपालाल नाम से कपड़े की बड़ी दूकान थी। इन दोनों के यहाँ जेठमलजी और पन्नालालजी गोद आये थे। जेठमलजी के यहाँ चिरंजीलालजी और पन्नालालजी के यहाँ सूरजमलजी दत्तक आये थे। उनका कपड़े का अच्छा व्यवसाय भी था। परन्तु व्यावसायिक (आर्थिक) मन्दी तथा उधारी के कारण इनका व्यवसाय बैठ गया। मेरे पिता

श्री चंपालालजी बैद मुनीम थे। पिताजी कहते थे कि वर्धा में सबसे पहले कार (मोटर) सूरजमलजी की ही आयी। उधारी वसूल नहीं हुई और देनदारी तो चुकानी ही पड़ी। आखिर सूरजमलजी बुलढाणा लौट गये। फिर शांतिलालजी अपने ताऊ (बड़े पिता) श्री चिरंजीलालजी बड़जाते वर्धा के पास आ गये और उन्हींके यहाँ इनकी परवरिश और पढ़ाई हुई। चिरंजीलालजी भारत जैन महामण्डल के मंत्री ही नहीं, एक प्रकार से इस संस्था के संरक्षक भी थे। दिगंबर जैन परिषद् से भी घनिष्ट संबंध था। जानेमाने नेता थे। चिरंजीलालजी का कपड़े का धंधा भी उधारी में डूब गया। तब सेठ जमनालालजी बजाज ने उन्हें सहारा और ढाढस दिया। जमनालालजी बजाज के कारण चिरंजीलालजी का देश के बड़े-बड़े नेताओं से परिचय हुआ, राष्ट्रपिता गांधीजी के संपर्क में भी आये ! जेल-यात्रा भी की !

शांतिलालजी ने सन् १९५५ में वर्धा में जी. एस. कामर्स कॉलेज से बी. कॉम. किया और नागपुर में इसी कॉलेज से १९५७-५८ में एम. कॉम, एल-एल.बी. किया। फिर नागपुर में ही उसी कॉलेज में बिजनेस मैनेजमेंट के प्रोफेसर नियुक्त हो गये।

श्री शांतिलालजी जब वर्धा से नागपुर गये, तब हाथ में केवल एक रुपया था। पर वे हताश नहीं हुए, उन्हें अपने श्रम पर विश्वास था। लगन और कर्मशीलता से वे अपने पैरों पर खड़े हो गये। यह एक ऐसी घटना है जो उन्हें भूलती नहीं और वे कहते भी हैं कि 'एक समय था (१९५२) जब मतदाता सूची के सौ नाम लिखने के चार आने मिलते थे।' उनका यह भी कहना है कि 'मुझे वे दिन भी नहीं भूलते जब मैं साइकिल से या पैदल ही बैंक में काम पर जाता था।'

श्री शांतिलालजी बांबे स्टॉक एक्सचेंज तथा नेशनल स्टॉक एक्सचेंज के ब्रोकर के रूप में प्रसिद्ध हैं। नागपुर के सकल जैन फाउंडेशन के उपाध्यक्ष, अनेक कंपनियों के डायरेक्टर और सम्प्रति वर्धमान को-ऑपरेटिव बैंक के डायरेक्टर हैं। आपने अमरावती के पास मुक्तागिरि सिद्धक्षेत्र में भी सर्वसुविधायुक्त यात्री-निवास और ऊपर विशाल सभा-भवन का निर्माण कराया है।

सम्मान तथा अभिनन्दन

इधर दो-तीन वर्षों में श्री शांतिलालजी की धार्मिक, सामाजिक तथा शैक्षणिक प्रवृत्तियाँ तेजी से प्रगति पर हैं। समय-समय पर आपका सम्मान तथा अभिनन्दन भी समाज द्वारा किया गया। इधर की कुछ उपलब्धियों की झलक यहाँ प्रस्तुत है :

—सन् २००४ में नागपुर मैनेजमेंट एसोसियेशन के अध्यक्ष पद पर मनोनीत।

—धर्म-संरक्षिणी महासभा के अध्यक्ष श्री निर्मलकुमारजी सेठी द्वारा महासभा के अधिवेशन में '**जैन संस्कृति संरक्षक**' की उपाधि से अलंकृत।

—श्रुत संवर्धिनी महासभा के राष्ट्रीय मंत्री पद पर प्रतिष्ठित हुए।

—अखिल भारतीय दि. जैन खंडेलवाल महासभा के सूरत अधिवेशन में **'दानवीर'** उपाधि से अभिनन्दन।

—अभी-अभी २००५ में आपने शांतिलाल बड़जाते चेरिटेबल ट्रस्ट स्थापित किया तथा इस ट्रस्ट के द्वारा नागपुर क्षेत्र में **जैन इंटरनेशनल पब्लिक स्कूल** के निर्माण का निश्चय छोटे पुत्र तथा पुत्रवधू श्री अनुज तथा पत्नी सौ. प्रीति द्वारा किया गया। यह प्रोजेक्ट २००६ तक निर्मित हो जाने का अनुमान है। प्रोजेक्ट के लिए भूमि प्राप्त कर ली गयी है।

—महावीर इंटरनेशनल के फाउंडेशन डे २६ जुलाई २००५ को पूर्व अध्यक्ष के नाते सम्मान किया गया तथा एम.आई. अवार्ड के अन्तर्गत Father in law of the year का अवार्ड प्रदान कर २५० सदस्यों की उपस्थिति में सम्मानित किया गया। इस समय राष्ट्रीय महामंत्री हैं।

—दिगंबर जैन महासभा के उपाध्यक्ष हैं।

—नागपुर मैनेजमेंट एसोसियेशन के अध्यक्ष हैं।

—वर्धा के शिक्षा मंडल के स्थायी सदस्य हैं।

—लक्ष्मीनगर, नागपुर के भव्य दिगंबर जैन मंदिर में भगवान् आदिनाथ, शान्तिनाथ तथा महावीर स्वामी की मनोज्ञ प्रतिमाओं की प्रतिष्ठापना पंचकल्याणक महोत्सव द्वारा अभी दिसम्बर २००५ में कराई गयी।

—खडेलवाल जैन महासभा के इन्दौर अधिवेशन में श्री बाबूलालजी छावड़ा अभिनंदन ग्रंथ का विमोचन किया। अक्तूबर २००५ में।

—२००४ में वैशाली में महावीर जयंती पर ध्वजारोहण किया तथा कुंडलपुर (नालंदा) में पूज्य गणिनी ज्ञानमतीजी के दर्शन किये।

—इन्दौर में आपकी सामाजिक सेवाओं के उपलक्ष्य में **जाति गौरव** तथा **रत्न श्रेष्ठी** अलंकरणों से सम्मानित किया गया।

—भगवान् बाहुबली के महामस्तकाभिषेक वर्ष में नागपुर में बाहुबली की प्रतिमा वेदी बनवाकर विराजमान की।

इनके अतिरिक्त स्थानीय तथा अन्य शैक्षणिक प्रवृत्तियों में बराबर आर्थिक सहयोग देते रहते हैं। जैसे, सारनाथ वाराणसी में डॉ. अभय कुमार जैन एम.ए., पी-एच.डी. द्वारा अपनी माँ स्व. विजयादेवी जमनालाल जैन सेवा समिति की ओर से गाँव-देहात के छोटे बच्चों के जीवन-शिक्षण के लिए संचालित अंकुर बाल मंदिर के एक सेंटर को आर्थिक सहायता प्रदान की।

श्री शांतिलालजी का विवाह सन् १९५९ में मुरादाबाद के श्री नंदकिशोरजी जैन की सुपुत्री श्रीमती शशिप्रभा के साथ हुआ। वे शांतिलालजी के हर सामाजिक कार्य में बराबर

सहयोगी रहीं, व्यवहार-कुशल थीं और अतिथि-सत्कार-परायण तो थी ही। शशिप्रभाजी सन् १९९६ में ३१ मार्च के दिन शांतिलालजी को एकाकी छोड़कर चल बसीं ! आपके दो पुत्र संजय और अनुज हैं। संजय ने सी.ए. किया है और आजकल पूना में सपरिवार रहते हैं। संजय के दो पुत्रियाँ—कु. आयशा और कु. मल्लिका है। अनुज ने नागपुर का कारोबार सम्हाल लिया है। अनुज के दो पुत्र हैं—तुषार और रौनक। शांतिलालजी अपने दोनों पौत्रों के साथ निवृत्तजीवन का आनन्द ले रहे हैं ! बेटी सुषमा-प्रदीप कुमारजी बाकलीवाल अहमदाबाद में रहते हैं।

स्व० महात्मा भगवानदीनजी का सान्निध्य भी इन्हें भरपूर मिला। मैं सन् १९४७ से १९५५ तक वर्धा में भारत जैन महामण्डल के मासिक पत्र 'जैनजगत' का संपादक था और सन् १९५१ के अंतिम दो महीने के लिए महात्माजी हमारे स्नेह और अनुरोध पर वर्धा आये थे। उन दिनों शांतिलालजी महात्माजी से मिलने बराबर आते-जाते रहे; क्योंकि श्री चिरंजीलालजी के संबंध भी महात्माजी के साथ थे। बाद में जब रहने के लिए नागपुर चले गये, तब भी वे महात्माजी के यहाँ, स्वाधीनता-आंदोलन के वरिष्ठ नेता त्यागमूर्ति पूनमचंदजी रांका के बंगले पर हर रविवार को जाते रहे। महात्माजी की पुत्रवधू कृष्णाबहन के साथ भी शांतिलालजी और शशिप्रभाजी का घनिष्ट आत्मीय भाईचारा रहा। नागपुर में सन् '५९ में महात्माजी को उनकी राष्ट्रसेवा के उपलक्ष्य में पचीस हजार की थैली प्रथम राष्ट्रपति भारतरत्न डॉ० राजेन्द्रबाबू के हाथों अर्पित की गयी थी, तब वह समारोह शांतिलालजी के मार्गदर्शन या संयोजकत्व में ही सम्पन्न हुआ था। श्रीमती कृष्णाबहन को अपने छोटे पुत्र अखिलेश एम.टेक की मृत्यु की पीड़ा सदैव सालती रही, पर शांतिलालजी भी एक भाई की तरह उन्हें बराबर ढाढस बँधाते रहे और हर प्रकार से मदद करते रहे।

भाई शांतिलालजी ने विदेशों की यात्राएँ भी खूब की हैं। फ्रांस, जर्मनी, आस्ट्रिया, कंबोडिया, हांगकांग, बैंकाक, आस्ट्रेलिया, सिंगापुर, स्वीट्जरलैंड और अभी-अभी जून २००३ में न्यूजीलैंड भी हो आये हैं। आज भी उनका दिल-दिमाग और कदम विदेश प्रवास के लिए थिरकते रहते हैं।

योग, योगासन, प्राकृतिक चिकित्सा तथा जैन तत्त्वज्ञान के प्रचार के प्रति उनकी अभिरुचि अनूठी है। वर्धा में प्राकृतिक चिकित्सालय के भवन-निर्माण में भी आपके द्वारा एक लाख की सहायता प्रदान की गयी है। नवम्बर २००२ में वे समय निकालकर एक सप्ताह के लिए सारनाथ आये और हमारा यह समय कैसे बीत गया, पता ही नहीं चला।

शांतिलालजी राष्ट्रीय आर्थिक स्थिति एवं गतिविधि का ही मूल्यांकन नहीं करते, बल्कि समाजसेवा में अर्पित लोगों की सेवाओं का भी सजगतापूर्वक ध्यान रखते हैं। सन् १९९५ में दिगम्बर जैन महासभा का नागपुर में एक नैमित्तिक अधिवेशन हुआ। मैं

भी अपने बालसखा मूलचन्दजी बड़जाते के अनुरोध पर नागपुर चला गया। सभा में समाज के कतिपय, खास-खास लोगों का प्रतीकों के साथ महासभा द्वारा सम्मान किया जा रहा था। वहीं अचानक मेरा भी नाम पुकारा गया। न तो मैं महासभा का साधारण सदस्य ही था और न उसकी कतिपय नीतियों से मेरा मेल ही रहा। भाई शांतिलालजी ने ही मेरे विषय में अध्यक्ष श्री निर्मल कुमारजी सेठी से कुछ कहा होगा। तब स्वयं सेठीजी ने खड़े होकर मेरा सम्मान किया।

समाज में लक्ष्मीपति तो अनेक हैं, उदार-हस्त से महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए दान भी खूब करते हैं, पर सहज उदार-हृदय से समाजसेवा के लिए, साहित्य-सेवा के लिए सतत कलम घिसनेवालों के विचारों से मतभेद होने पर भी सहायता के लिए तत्पर जन विरल ही होते हैं। इस माने में शांतिलालजी बड़जाते निराले और स्वनामधन्य व्यक्ति माने जायेंगे।

यही कारण है कि मेरे अनुरोध पर महात्मा भगवानदीनजी की '**सत्य और जीवन**' जैसी क्रान्तिकारी, स्वतंत्र विचारों द्वारा रूढ़ मान्यताओं पर वैज्ञानिक दूरबीन से यथार्थ प्रकाश डालनेवाली पुस्तक के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहयोग की स्वीकृति दे दी और अब इन '**प्रेरक बोधकथाओं**' के प्रकाशन में भी अपना आर्थिक सहयोग प्रदान करके ज्ञान की आराध्य देवी सरस्वती का आशीर्वाद प्राप्त किया है। आशा है क्रांतिकारी विचारों की ये दोनों पोथियाँ समाज के सभी वर्गों के हाथों में पहुँच कर एक नया क्षितिज निर्माण करने में उपयोगी सिद्ध होंगी।

-: **सम्पर्क सूत्र** :-

सर शांतिलाल बड़जाते चेरिटेबल ट्रस्ट

शांति निकेतन, 3-C/2 धरमपेठ एक्सटेंशन

नागपुर (महाराष्ट्र) 440 010

फोन 0712 - 2540911 Mobile 3286363

Fax 0712 - 2550081 E-mail badjate_anuj@sify.com



महात्मा भगवानदीन

उदारचेता युगपुरुष, अमर भगवानदीन।
जग को सच की पहचान, तुमने अच्छी दीन॥
जुग-जुग जीओ तुम यहाँ, सींचो प्राण नवीन।
गुरुकुल फिर चलाओ तुम, बालक बनें प्रवीण॥

उपर्युक्त दोहों में जिन भगवानदीनजी को गुणानुवाद सहित स्मरण किया गया है वह 'महात्मा' के विरुद से ख्यात रहे। परन्तु, जैसा कि '**जीवन साहित्य**' के सम्पादक (स्व.) श्री यशपाल जैन ने अपने संस्मरणात्मक लेख 'मौलिक प्रतिभा के धनी महात्माजी' में लिखा है, "न महात्माओं जैसा बाना, न वैसी आकृति, न शब्दावली। कपड़े के नाम पर घुटनों तक का कोकटी का जांघिया और सफेद खादी की चादर। बस, यह था उनका लिबास। शरीर दुबला-पतला, सिर पर छोटे-छोटे बाल, चेहरे पर बेतरतीब दाढ़ी-मूँछें। साधु-महात्मा का कोई भी बाह्य उपकरण उनके पास न था, फिर भी उनकी आकृति में और वाणी में कुछ था, जिससे लगा कि वे कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। धीरे-धीरे मैंने अनुभव किया कि उन्हें 'महात्मा' की संज्ञा अकारण नहीं दी गयी है। उनका जीवन मुझे विशुद्ध नैतिक और आध्यात्मिक भूमिका पर आधारित दिखाई दिया। साधु साधुत्व की मर्यादा में बँधकर प्राय: बड़ी लाचारी का सामना करता है और अधिकांश साधुओं के लिए साधुता सहज नहीं रहती। लेकिन महात्माजी की सबसे बड़ी खूबी मुझे यह लगी कि साधुता उनके लिए भार न थी, अत्यन्त सहज स्वाभाविक थी।"

यद्यपि बाल्यकाल से ही ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम (गुरुकुल) हस्तिनापुर के अधिष्ठाता के रूप में महात्मा भगवानदीनजी का नाम मेरे कर्णकुहरों में पड़ता रहा, अब से कुछ समय पूर्व तक वे मेरे लिए नितान्त अपरिचित ही थे। गत वर्ष श्री जमनालाल जैन, सारनाथ के सौजन्य से मुझे महात्माजी की पुस्तक '**सत्य और जीवन**' पढ़ने को प्राप्त हुई और उसके माध्यम से महात्माजी के विषय में कुछ जानने-समझने का अवसर मिला। पं. अजित प्रसाद, एडवोकेट की आत्मकथा '**अज्ञात जीवन**' में 'ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम' और 'भगवानदीनजी का मुकदमा' के अन्तर्गत भी उनके जीवन की कुछ झलकियों को अनुस्यूत पाया। '**गुरु गोपालदास बरैया स्मृति-ग्रन्थ**' में समाहित बरैयाजी के सम्बन्ध में महात्माजी के संस्मरणों में उनकी

सूक्ष्मग्राहिणी दृष्टि और स्पष्ट दो टूक शब्दों में अपनी बात व्यक्त करने की शैली के दर्शन हुए।

११ मई, १८८४ ई. को जिला अलीगढ़ गे ग्राम अतरौली में जन्मे और ४ नवम्बर, १९६२ ई. को नागपुर में दिवंगत हुए भगवानदीनजी की ७८ और ५ मास २३ दिवस की जीवनयात्रा अनेक उतार-चढ़ाव से परिपूर्ण रही। उनके पिताजी श्री गंगाराम मित्तल परम्परागत रूप से श्रद्धावान दिगम्बर जैन धर्मानुयायी थे। उनकी माताजी एक उदारहृदया महिला थीं जिनके वात्सल्य की छाँव में पलकर भगवानदीन बालक से बढ़कर किशोर बने और जिनकी सरलता और सूझबूझ ने उनमें सत्य के वास्तविक रूप को समझने-परखने की विवेक-बुद्धि विकसित की। कदाचित् अपने भाई-बहन से वह छोटे थे, अत: सबके दुलार का पात्र थे। वह मध्यवर्गीय परिवार के थे। श्री-सम्पन्नता भले ही उनके परिवार से विमुख रही हो, सन्तुष्टि का वातावरण वहाँ रहा।

जब वह १६ वर्ष के थे मेधावी भाई ने विषपान कर अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी। १७ वर्ष के हुए सिर से पिता का साया हट गया। २०-२१ की आयु प्राप्त करते-करते स्नेहमयी माँ मुख मोड़ गई और फिर कुछ समय पश्चात् ही मृत्यु उनके बहनोई को लील बहन को विधवा बना गई। जल्दी ही एक-एक कर आई इन विपत्तियों ने किशोर भगवानदीनजी को झकझोर कर रख दिया। मिडिल कक्षा से ही पढ़ाई बन्द कर उन्हें नौकरी की खोज करनी पड़ी। संयोग से रेलवे में उन्हें नौकरी मिल गई और अपनी कार्यक्षमता, सूझ-बूझ व अध्यवसाय से वह तरक्की कर शीघ्र ही स्टेशन मास्टर के पद पर भी पहुँच गये। किन्तु भवितव्यता कुछ और ही थी। एक दिन अपना घर और घर की जिम्मेदारियों को अज्ञात भविष्य की कृपा पर छोड़ २६ वर्ष की वय में उन्होंने लगी लगाई नौकरी को लात मार दी, त्यागपत्र दे दिया और आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण कर सप्तम प्रतिमाधारी साधु बन गये। ऐसा क्यों हुआ, इसकी निश्चित जानकारी उपलब्ध नहीं है।

पं. अजित प्रसाद, एडवोकेट के '**अज्ञात जीवन**' से विदित होता है कि भगवानदीनजी की जीवनसंगिनी भी आजन्म ब्रह्मचर्य धारण कर मुम्बई श्राविकाश्रम में चली गई थीं और उनकी विधवा बहिन भी दिल्ली में जैन महिलाश्रम में चली गई थीं।

इन दोनों महिलाओं की इस प्रकार विरक्ति का कारण कदाचित् भगवानदीनजी द्वारा इस प्रकार अकस्मात् नौकरी त्याग ब्रह्मचारी साधु बन जाना रहा हो, अथवा यह भी संभव है कि किन्हीं कारणों से इन महिलाओं के मन में उपजे वैराग्यभाव ने

भगवानदीनजी को घर छोड़ने पर विवश किया हो। वास्तविकता क्या है, यह कहना कठिन है। परन्तु इस घटना ने भगवानदीनजी के जीवन में एक नये अध्याय को जन्म दे दिया। वह भगवा वस्त्र धारण कर देश में विभिन्न स्थानों, तीर्थों और पर्वतों पर भ्रमण करने लगे। एक दिन बदरीनाथ-मार्ग पर अकस्मात उनकी एक मद्रासी संन्यासी से भेंट हो गई। उसने इस तेजस्वी युवा को साधु-वेश में घूमते देख खेद व्यक्त किया और समाज व देश की भलाई का कार्य करने की सलाह उन्हें दे डाली। भगवानदीनजी को संन्यासी की बात जँच गई और वह उलटे पाँव वापस लौट पड़े। उन्होंने साधु-वेश त्याग दिया। कुछ मित्रों की सलाह पर उनके मन में एक गुरुकुल, आदर्श गुरुकुल, स्थापित करने की ललक जगी। इस हेतु उन्होंने ढाई माह तक देश-भ्रमण किया। इसी क्रम में जयपुर जा पहुँचे। वहाँ जैन शिक्षण समिति के छात्रावास का अधिष्ठाता पद संभाला। उस अवधि में उन्होंने धार्मिक ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया और अंग्रेजी का अभ्यास बढ़ाया। संयोग से सन् १९१० ई. में जयपुर में सम्पन्न ऑल इंडिया जैन एसोसियेशन के वार्षिक अधिवेशन में सर्वसम्मति से हुए निश्चयानुसार पहली मई १९११ ई. को अक्षय तृतीया के दिन हस्तिनापुर (जिला मेरठ) में '**श्री ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम**' की स्थापना हुई। उसके अधिष्ठाता पद का दायित्व भगवानदीनजी ने स्वतः स्वीकार कर लिया। अपने साथ वह अपने तीन वर्षीय एकमात्र पुत्र वीरेन्द्र को तथा अपने भानजे जैनेन्द्र कुमार को भी इस आश्रम में लिवा लाये।

भगवानदीनजी ने गुरुकुल का संचालन अपने ढंग से किया था। उनके रहते वह कठोर अनुशासन और रूढ़िभंजन का पर्याय बन चला था। बालकों को निर्भीक, स्वाभिमानी और स्वावलम्बी बनने की शिक्षा दी जाती थी। सभी बालक मिलकर कुएँ से पानी खींच लेते थे और थोड़े समय में स्नान कर, अपने वस्त्र धोकर अपने निवास स्थान पर आ जाते थे। बालक कटीली भूमि पर, जहाँ और लोग बूट पहनकर चलते थे, नंगे पैर कूदते चले जाते थे। और गुरुजी की किसी भी आज्ञा को, बिना ऊहापोह के, शिरोधार्य करते थे। उन्हें भोजन स्वाद के लिए नहीं, अपितु स्वास्थ्य के लिए दिया जाता था। कभी-कभी नमक रहित भोजन का भी अभ्यास कराया जाता था। सभी बालक अपनी भोजन की थाली, कटोरी, गिलास स्वयं उठाकर मांजकर रख देते थे, उसके लिए कहार की व्यवस्था नहीं थी। भगवानदीनजी अपने छात्रों को प्रतिवर्ष देश के विभिन्न भागों की यात्रा कराते थे ताकि उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव मिले। उन यात्राओं को वह 'सरस्वती-यात्राएँ' कहते थे। आश्रम के सभी सदस्य मन्दिर में देव दर्शन करने हेतु नंगे सिर जाते थे और वहाँ द्रव्य नहीं चढ़ाते थे। भगवानदीनजी

ने बालकों को धर्म का सही मर्म बताया, परन्तु यह बात परम्परा-पोषक पंडितों और धनिक वर्ग के गले नहीं उतरी।

भगवानदीनजी का कहना था कि उनके आश्रम का कोई भी विद्यार्थी झूठ नहीं बोलता था, चोरी या मिथ्याचार नहीं करता था या किसी काम से जी नहीं चुराता था। वे यह भी उचित नहीं समझते थे कि आश्रम के बालक किसी के घर जाकर भोजन करें क्योंकि इससे दीनता प्रकट होती है। परन्तु पं० गोपालदासजी बरैया के मुरैना गुरुकुल में यह विचार नहीं चला, क्योंकि बरैयाजी को वे महान् व्यक्ति मानते थे। इस प्रकार उनके प्रयोग काफी सफल रहे, किन्तु दुर्भाग्य से समाज उनके क्रान्तिकारी प्रयोगों को सहन नहीं कर सका और उन्हें तथा उनके सहयोगियों को शीघ्र ही सन् १९१५ ई. में इस आश्रम से अपना सम्बन्ध विच्छेद करना पड़ा। उस समय आश्रम में ६० बालक थे जो मेरठ और उसके आस-पास के क्षेत्र के प्रायः मध्यमवर्गीय परिवारों से आये थे।

भगवानदीनजी ने इस गुरुकुल में छात्रों के साथ हुए अनुभव के आधार पर उपद्रवी, शरारती बालकों को कैसे रास्ते पर लाया जाय, कैसे सिखाया जाय, इस विषय पर कहानियाँ लिखीं जो '**बालक सीखता कैसे है**' शीर्षक से छपीं। साथ ही बाल-मनोविज्ञान पर अपनी पुस्तकों '**माता-पिताओ से**' तथा '**बालक अपनी प्रयोगशाला में**' का प्रणयन किया था। उन्होंने गुरुकुल के अपने इस अल्पतम काल का एक इतिहास भी लिखा, जो पहले २२वें वर्ष के 'वीर' के अंकों में क्रमशः छपा था। श्री कामताप्रसादजी जैन ने संकलित किया। अभी वह टंकित (टाइप्ड) प्रति श्री जमनालाल जैन के पास है। अप्रकाशित है।

हस्तिनापुर के ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम से अलग होने के उपरान्त जल्दी ही महात्मा गांधी की विचारधारा से प्रभावित होकर भगवानदीनजी राजनीति के राष्ट्रीय मंच में सक्रिय हो गये। १० अप्रैल, १९१९ को दिल्ली जाते हुए पलबल रेलवे स्टेशन पर महात्मा गांधी गिरफ्तार कर लिए गये। इस घटना की प्रतिक्रिया स्वरूप ११ अप्रैल को पानीपत में पूर्ण हड़ताल हुई। वहाँ विशाल जनसभा को सम्बोधित करने वालों में भगवानदीनजी भी थे। उन्होंने अपने भाषण में रौलट ऐक्ट, अंग्रेजों और पुलिस की निन्दा की। अपने वक्तव्य को प्रभावी बनाने के लिए अरबी-फारसी में कुछ शेर भी कहे। उनमें से एक शेर था-

"वह कौन सा उकदा है जो वा हो नहीं सकता
हिम्मत करे इन्सान तो क्या हो नहीं सकता॥"

(अर्थात् वह कौन सा फंदा है जो नहीं खुल सकता है, यदि मनुष्य हिम्मत करे तो सब कुछ हो सकता है।)

१२ जुलाई से १३ सितम्बर १९१९ तक उन पर जिला मजिस्ट्रेट की कचहरी में मुकदमा चला और उन्हें रौलट ऐक्ट का विरोध करने का अभियुक्त पाया गया। किन्तु उनके जैन ब्रह्मचारी उपदेशक होने तथा उनके जीवन-व्यवहार, साधारण सदाचार और बलिष्ठ शरीर न होने को ध्यान में रखते हुए छह मास का सादा कारागार का दंड दिया गया। उसकी अपील सेशन जज करनाल के यहाँ की गई जो नामंजूर हो गई। तब लाहौर हाईकोर्ट में सर मोतीसागर ने उसकी निगरानी दाखिल की, किन्तु तब तक अन्य राष्ट्रीय बन्दीजन के साथ भगवानदीनजी भी बादशाही हुक्म से बन्दीखाने से छोड़ दिये गये। थोड़े दिन बाहर रहने के उपरान्त भगवानदीनजी को पुन: सिवनी में कांग्रेस के सत्याग्रह आन्दोलन में भाग लेने के कारण सपरिश्रम कारागार का दण्ड सहना पड़ा। उन्होंने जेल में आतंककारी सरकार का अन्न-जल ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। गरमी के दिन थे। गले और जिव्हा में काँटे पड़ गये। जिस दिन वह मरणासन्न थे, उस दिन एक बैरिस्टर अपने घर से जल-फल लाये। भगवानदीनजी ने अनशन तोड़ा। फिर प्रतिदिन जेल में उनके लिए बैरिस्टर साहब के घर से आहार-पानी आता रहा।

सन् १९२० में उन्होंने नागपुर में 'असहयोग आश्रम' की स्थापना की, जो प्राचीनकाल के ऋषि-आश्रमों की तरह था। आश्रमवासी सारा काम स्वयं करते थे। आचार्य विनोबाजी भी प्रमुख सहयोगी थे। वहाँ ऊँच-नीच या जात-पाँत का कोई भेदभाव नहीं था। सब मितव्ययता से रहते थे। राजनीतिक क्षेत्र में निस्सन्देह यह एक अभिनव प्रयोग था। भगवानदीनजी ने लगभग सभी प्रमुख राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लिया। सन् १९२१ में वह मध्यप्रदेश कांग्रेस के अध्यक्ष बने और सन् १९२३ में नागपुर में झण्डा-सत्याग्रह के कर्णधार रहे।

देश की स्वतन्त्रता-प्राप्ति पर्यन्त अनेक बार उन्हें जेल-यात्रा का सुयोग प्राप्त हुआ और उसका उन्होंने भरपूर सदुपयोग किया। स्व. जैनेन्द्र कुमार जी के शब्दों में ''हर जेल-प्रवास में अथक होकर उन्होंने लिखा। कापियों-पर-कापियाँ और रजिस्टर-पर रजिस्टर भरते चले गये। सामग्री की दृष्टि से आसमान से लेकर धरती तक उसमें क्या कुछ न था। गद्य, पद्य, कहानी, विचार, भजन, गीत, तत्त्वज्ञान, अनुसंधान, नीतिज्ञान, दोहे, श्लोक, चौपाई और जाने क्या-क्या। पर लिखने से आगे जैसे महात्माजी को उससे सम्बन्ध न रहा। जहाँ जो चीज रही, रह गई। फिर

क्या उनका बना मानो इससे उन्हें वास्ता नहीं।'' इस अर्थ में वह वास्तव में निस्संग थे।

उन्होंने कुछ समय इलाहाबाद में रहकर '**विश्ववाणी**' (हिन्दी) और '**नया हिन्द**' (हिन्दी-उर्दू) पत्रिकाओं के सम्पादन में '**भारत में अंग्रेजी राज**' के लेखक पं. सुन्दरलालजी का सहयोग किया। सन् १९४७ ई. से नागपुर को ही उन्होंने अपना स्थायी निवास बना लिया। सन् १९५१ के अन्त में वह वर्धा में वहाँ से प्रकाशित '**जैन जगत्**' मासिक के सम्पादक श्री जमनालाल जैन के अनुरोध पर डेढ़-दो माह उनके निवास पर रहे और उक्त पत्रिका को पर्याप्त विचारोत्तेजक एवं प्रेरणाप्रद सामग्री प्रदान की। श्री जमनालालजी ने उन दिनों की याद करते हुए लिखा है, ''महात्माजी प्रतिदिन प्रातःकाल एकाध विचार लिखाया करते थे। पर यह सारी सामग्री जहाँ की तहाँ धरी रह गयी। उन्होंने कभी यह चिन्ता नहीं की कि जो लिखाया है, वह किसके पास है, छपा या नहीं और प्रकाशक कौन है। ज्ञान को वे व्यवसाय की चीज नहीं मानते थे।''

पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली; भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली; सर्व सेवा संघ-प्रकाशन, वाराणसी; पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी; शुचिता प्रकाशन, सारनाथ और भारत जैन महामण्डल, वर्धा से उनकी अनेक कृतियाँ प्रकाशित हुई। उनकी '**जवानो**' तथा '**जवानो राह यह है**' पुस्तकों को पढ़कर पं. जवाहरलालजी फड़क उठे और उन्होंने कहा 'ये पुस्तकें तो सेना के जवानों को पढ़नी चाहिए।'

जीवन भर सत्य के खोजी रहे भगवानदीनजी ने जैन धर्म और अन्य धर्मों का जो अध्ययन किया, वह केवल पंडिताऊ या तोतारटंत नहीं था। उन्होंने प्रकृति, मानवीय स्वभाव, शरीर संरचना, विज्ञान तथा कालगत परिस्थितियों को ध्यान में रखकर उनका मूल्यांकन किया और अपने ढंग से व्याख्याएँ की। भले ही अनेक परम्परापोषक उनसे असहमत रहे। ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए उन्होंने '**तत्त्वार्थ सूत्र**' पर भाष्य लिखना प्रारम्भ किया था जो जेल यात्राओं में कहीं विलुप्त हो गया। किन्तु '**तत्त्वार्थ सूत्र**' के दूसरे अध्याय के विवेचन स्वरूप उनकी कृति '**लोकभाव या आत्मबल**' ग्यारह प्रतिमाओं पर स्वतंत्र चिन्तन स्वरूप '**समाज सेवा के ग्यारह सोपान**', '**प्रवचनसार**' पर स्वतन्त्र विवेचन '**स्वाध्याय**' और सोलहकारण भावनाओं पर स्वतंत्र चिन्तन स्वरूप उनकी कृति '**नेता बनने के उपाय**' आज भी मननीय हैं। उनकी कृति '**सत्य की खोज**' और जैन संस्कृति पर उनका लेख काफी लोकप्रिय रहे। वह मात्र दार्शनिक या गम्भीर चिन्तक ही नहीं थे। विनोदी और बाल-साहित्य के सर्जक भी

थे। दो बिल्लियों के जीवन पर उन्होंने ५७ कहानियाँ **बिल्ली की कहानी** पुस्तक लिखी। बालकों या किशोरों को पाँच व्रतों की महत्ता समझाने के लिए वे छोटी-छोटी कहानियाँ लिखाना चाहते थे। अहिंसा व्रत पर **प्यारा प्रेम** और सत्यव्रत पर **सलोना-सच** नाम से २०-२० कहानियाँ लिखीं जिनमें दोनों व्रतों के विविध प्रकार प्रकट हुए हैं। उन्होंने निबन्ध भी लिखे जिनकी खूबी जैनेन्द्र जी के शब्दों में यह रही, ''भाषा एकदम सहज और बोलचाल की है, भाव वह है जो आध्यात्मिकों के लिए गूढ़ पड़ते हैं। अत्यन्त कठिन विषय को बेहद सरलता से वे उपस्थित करते हैं और किसी पक्ष का खण्डन न करके सत्य पक्ष को ऐसे चित्रित करते हैं मानो वह उनका सबका समुच्चय ही हो।''

सारा जीवन देश-सेवा और समाजसेवा को अर्पित करनेवाले प्रबुद्ध चिन्तक-लेखक भगवानदीनजी भले ही स्वयं अपरिग्रही और अनासक्त रहे, पर थे पारिवारिक। उन्हें जीवन में अनेक त्रासदियों को सहना पड़ा जिसमें एक उनके एकमात्र पुत्र का असामयिक निधन भी था। वह अपनी पुत्रवधु और पौत्रों के साथ रहते थे। वृद्धावस्था थी, दमे का रोग था और जीविका चलाने का कोई सहारा नहीं। कुछ इष्ट मित्रों को इसकी चिन्ता सताई और उन्होंने उनका सम्मान कराने की योजना बनाई। १३ अगस्त, १९५९ को भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने नागपुर जाकर उनका भावभीना अभिनन्दन किया और उन्हें पच्चीस हजार रुपये की थैली भेंट की। साथ ही सर्व सेवा संघ-प्रकाशन, वाराणसी ने उनकी रचनाओं के प्रकाशन के उपलक्ष्य में १५० रुपये प्रतिमाह देना तय किया। आज महात्मा भगवानदीनजी हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु उनके कार्य उनको अमर करने के लिए पर्याप्त हैं। विगत ११ मई को उनकी १२१वीं जन्म-जयन्ती के उपलक्ष्य में यह विनयांजलि अर्पित है।

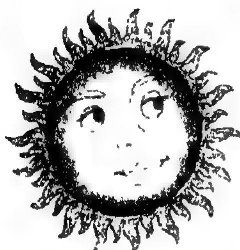
—रमाकान्त जैन

ज्योति निकुंज, चारबाग, लखनऊ

(शोधादर्श चातुर्मासिक से साभार उद्‍धृत अंक ५६)

१. सूरज और कमल

सूरज—कमल राजा, मैं तुमसे बहुत प्रसन्न हूँ। यह पृथ्वी मेरा ही अंग है। पर इसकी सब वनस्पतियों, सब कीड़े-मकोड़ों, सब पशु-पक्षियों और सब प्राणियों में तुम ही ऐसे हो जो मुझे सच्चे जी से प्यार करते हो, मेरा आदर करते हो। मेरे आने की खबर सुनते ही तुम मुसकरा उठते हो। मेरे दर्शन पाते ही तुम खिलखिला उठते हो। मेरी किरणें तुम तक पहुँचते ही तुम अपनी पंखुड़ियाँ झुकाकर मुझे नमस्कार करने लगते हो। यहाँ तक कि धीरे-धीरे तुम अपनी पंखुड़ियों को दण्डवत फैला देते हो। तुम मेरा आदर ही नहीं करते, मुझे प्यार भी करते हो। मेरे चले जाने पर मेरे वियोग में तुम





उदास हो जाते हो। अपनी खिल-खिलाहट-मुसकराहट सब भूल जाते हो। यहाँ तक कि तुम अपने को भूल बैठते हो। तुम्हें याद ही नहीं रहता कि तुम पर भौंरा बैठा हुआ है। तुम अपना मुँह बंद कर लेते हो। रात की वियोग की घड़ियाँ दुःख से काटते रहते हो। तुम्हारी इस भक्ति को देखकर तुम्हारे अन्दर बैठा हुआ भौंरा अपनी कठोरता और अपनी हिंसकभावना सभी भुला बैठता है। वह लकड़ी जैसी कठिन चीज को काट सकता है, पर पंखुड़ी जैसी मुलायम चीज को न काटने की सोचता है, न काटता है। बंदी बने रहने में ही सुख मानता है। तुम्हारे दुःख में दुःखी रहकर रात

बिता देता है। हे कमल ! तुम धन्य हो। तुम्हारा जैसा भक्त न मुझे मिला, न कभी मिल सकेगा। मैं जानता हूँ कि तुम निरपेक्ष और निःकाँक्ष भक्त हो। तुम मुझसे बदले में कुछ नहीं चाहोगे। पर मेरी यह विनम्र प्रार्थना स्वीकार करो कि आज मुझसे कुछ माँगो।

कमल—(गर्दन टेढ़ी करके, आँखों की पुतलियाँ कोने की तरफ कुछ ऊँची करके, कुछ घृणित भाव में) सूरज से बोला, क्या तुम यह कर सकते हो कि आइन्दा आना छोड़ दो ?

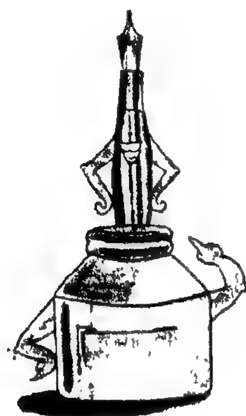
सूरज—(कुछ मुसकराकर और कुछ व्यथित होकर) समझा, समझा। तुम महामना हो, उदार-आशय हो। सचमुच वियोग में जो आनन्द है, वह मिलन में कहाँ ? अगर मैं प्रकृति के नियमों में बँधा न होता तो अवश्य तुम्हारी आज्ञा का पालन करने की बात सोचता।

कमल—(बुरी तरह बिगड़कर) तुम जरूरत से ज्यादा मूर्ख हो। तभी तो तुम न मेरी बात समझ पा रहे हो और भाव-भंगिमा को तो ताड़ ही नहीं सकते। तुम मेरे पिता तालाब को सुखानेवाले, मेरी माँ कीचड़ को दुःख पहुँचानेवाले, तुम्हारी आने की खबर सुनकर मैं मुसकराऊँगा या आवेश में आऊँगा ? तुम्हारे आँखों के सामने आते ही मैं खिल-खिलाऊँगा या क्रोध से लाल-पीला हो जाऊँगा ? तुम्हारी उन किरणों को जो मेरे पिता की देह में काँटे की तरह चुभती हैं, उनके कारण क्या मैं आदर से झुकूँगा ? मैं अपने बाप के बैरी को कैसे दण्डवत कर सकता हूँ ? बलिहारी तुम्हारी प्रसिद्धि-प्रिय सूझ पर। मैं जो अपनी पंखुड़ियाँ फैलाता हूँ, वह तो सिर्फ इसलिए कि अपने बूतेभर अपने बाप की देह के छोटे-से हिस्से को अपनी शक्तिभर तुम्हारी किरणों की वेदना से बचा सकूँ और सूखने से रोक सकूँ। सर और पंक मेरे माता-पिता ही नहीं हैं, मेरे रक्षक और पालक भी हैं। उनके बैरी को मैं कैसे प्यार कर सकता हूँ ?

सूरज—यह बात है ! (मन ही मन) आज तक सारे कवि मुझे धोखे में ही रखते आये। काव्य अत्युक्ति पूर्ण होता है और अत्युक्ति को सत्य नहीं मानना चाहिए। यह सीख आज मुझे मिली। ●

२. कलम और दवात

एक दिन देखता हूँ कि कलमदान में से आवाज आ रही है और आवाज भी ऐसी जैसे दो व्यक्ति लड़ रहे हों। पहले तो मैं यही समझा कि इतने छोटे-से बक्से में भूत ही समा सकते हैं और वे ही लड़ सकते हैं। पर रेडियो युग की बुद्धि ने हँसकर और कुछ डाँटकर कहा, 'कलमदान खोलो और उसकी जाँच करो।' मैंने बुद्धि से सविनय कहा, 'आप का कहना सर आँखों, डर नाम की कोई चीज मेरे पास अब नहीं है। पर खोलने से पहिले मैं कान लगाकर सुनना चाहता हूँ कि अन्दर हो क्या रहा है, फिर खोलूँगा।' बुद्धि मान गई और मैं सुनने लगा।



कलम हुक्म के तौर पर दवात से कह रही थी, 'देखो हम सोये हुए हैं, तुम पहरा देते रहना।'

दवात बिगड़कर बोली, 'यह कैसी बदतमीजी है, मेरा तुम्हारा बराबर का रिश्ता है। जैसी तुम वैसी मैं।'

कलम ने बिगड़कर कहा, 'देखती नहीं हो, कलमदान की नौ बटा दस जगह मुझे मिली हुई है। तुम्हें तो मेरे नौकर होने की हैसियत से एक कोने में जगह दे दी गई है।'

'क्या कहा ?' बिगड़कर दवात बोली, 'तुम कई हो, आज तुम एक हो, यह दूसरी बात है; लेकिन तुमको दस-दस पन्द्रह-पन्द्रह रहकर इसी नौ बटा दस जगह में गुजारा करना होता है। मैं रानी हूँ। तुम सब मेरी नौकरानी हो। यह मेरा महल है। यह तुम्हारी घुड़साल जैसी कलमसाल है।'

कलम बोली, 'जबान सम्भालकर बोलो, मैं बादशाह हूँ। मैं आदमी का नाम रोशन करती हूँ। मैं उसको बादशाह भी बना सकती हूँ।'

दवात ने व्यंग्य से कहा, 'यह तुमने खूब फरमाया। मेरे बादशाह, यह तो मैं हूँ जो आदमी का नाम रोशन करती हूँ, तुम्हारा काला मुँह किये बिना मैं वैसा कर भी नहीं सकती।'

कलम को यह सुनकर आव रहा न ताव। उछलकर बोली, 'बदजात, तुझे मुँह लगाया तो तू गुस्ताख हो गई।' और फिर व्यंग्य के साथ बोली, 'मेरी बेगम साहिबा, जुम्मा-जुम्मा आठ रोज़ पहले तो तुम पैदा हुई। तुम्हारे पैदा होने से पहिले मैं पत्थर पर निशान खोदकर आदमी का नाम रोशन करती थी।'

व्यंग्य की हँसी हँसती हुई दवात बोली, 'मेरी बादशाह, तुम्हारी हकीकत का मुझे पता है। तुम जैसा नाम रोशन करती थी, उसका मुझे पता है। मेरी बादशाह, आपके सर पर जब लोहे का जूता पड़ता था और जब पत्थर अपनी छाती पर ज़ख्म खाने को तैयार होता था, तब कहीं आदमी का नाम रोशन होता था।'

मामला हद से ज्यादा बढ़ते देख मैंने कलमदान खोल दिया। दवात में कुछ बूँदें पानी डाल उसका गुस्सा शान्त किया। कलम का भी मुँह धोया। उसकी नाराज़ी दूर की और लिखने बैठ गया और लिखा यह कि **कलम बादशाह और दवात बेगम जब दोनों मेल-मिलाप से रहते हैं, तब ही मुझ इन्सान का नाम रोशन हो सकता है।** ●

३. तिनका और गुब्बारा

गुब्बारे को उड़ता हुआ देखकर पहाड़ की तलहटी में पड़ा तिनका विचार करने लगा। विचार करते-करते विज्ञानियों पर बिगड़ बैठा। जोर-जोर से अपने आप कहने लगा, हल्की चीज ऊपर रहती है यह बिलकुल झूठ! एकदम झूठ!! सरासर झूठ!!! क्या यह गुब्बारा मुझसे हल्का है ? मुझ जैसे एक लाख भी अगर एक पलड़े में चढ़ा दिये जायँ और दूसरे पलड़े में इसे रख दिया जाय तब भी इसका पलड़ा ऊँचा उठना तो एक ओर, धरती के तल को भी नहीं छोड़ेगा और यह है कि पहाड़ की चोटी तक पहुँचा जा रहा है। उसे पार कर जायेगा। इतना ही नहीं, अगर इस पहाड़ पर दूसरा पहाड़ रख दिया जाय तो यह इसको भी पार कर जायेगा। विज्ञान धोखा है, फरेब है!

धरती माता यह सब सुन रही थीं। वह बोल पड़ीं, 'मेरे नन्हें-मुन्ने तिनके राजा, बिगड़ो नहीं। जब तूफान आयेगा तो मैं तुम्हें उसकी गोदी में बिठाकर पहाड़ की चोटी में बिठा दूँगी।'



तिनका फिर बिगड़ गया। बोला, 'जी हाँ, माताजी, और मैं वहाँ सड़ता गलता रहूँगा। या फिर तलहटी में आ पड़ूँगा। धरती माता ने बड़े प्यार से कहा, 'बेटे, यह गुब्बारा ही कौन चाँद पर पहुँच जायेगा। इसे भी तुम्हारी तरह नीचे ही आना होगा।'

तिनका बोला, 'यह अपने आप तो ऊँचा उठ रहा है। मैं हल्का हूँ, मैं क्यों नहीं उठ सकता ?'

धरती माता बोली, 'बेटे, गुब्बारे में तो पोल ही पोल है। आदमी ने इसे चंग पर चढ़ा दिया है। बहका-फुसला दिया है। हवा भर दी है, हवा। इसी जोश में हवा भरकर अपने भवितव्य को भूल उड़ा चला जा रहा है।

बेटे, क्या तुम भी चाहते हो कि तुम्हें पोला कर दिया जाय और तुममें हवा भर दी जाय ?'

तिनका बोला, 'नहीं माताजी, नहीं। तब तो मैं तलहटी में ही भला हूँ और फिर खिलखिलाकर हँसता हुआ, ऊपर को देख तालियाँ बजाता हुआ, चिल्ला-चिल्लाकर कहने लगा 'और उड़ो और उड़ो गुब्बारे मियाँ और उड़ो, नीचे आकर अपनी उड़ान की कथा सुनाना।' ●

सत्य और जीवन

सत्य के विविध पहलुओं पर स्वतन्त्र चिंतन : महात्मा भगवानदीन; सम्पादक जमनालाल जैन; शुचिता प्रकाशन, अभय कुटीर, सारनाथ-वाराणसी-२२१००७ (उ.प्र.); पृष्ठ-संख्या : २००; संशोधित-परिवर्धित संस्करण (छठा) ८ नवम्बर, २००३; मूल्य : सहयोग राशि एक सौ रुपये, साजिल्द राशि एक सौ पच्चीस रुपये।

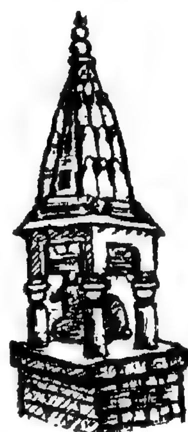
महात्मा भगवानदीन ने 'सुनिये !' के अन्तर्गत लिखा है—'खुले दिल और खुली आँखों से यह किताब लिखी गयी है। लेखक की अपेक्षा (इच्छा) है कि पाठक इसे दिल खोलकर और आँखें खोलकर ही पढ़े। तब भी कुछ खटके तो लेखक उसे अपनी ही कमी मानेगा, पाठक की नहीं। अब निवेदन है कि पोथी खोलिये और पढ़िये।'

प्रकाशकीय/सम्पादकीय में श्री जमनालाल जैन का यह कथन उल्लेखनीय है : 'महात्मा भगवानदीनजी का जीवन निरन्तर सत्य का खोजी रहा है। वे छोटी-से-छोटी या मामूली-सी घटना में बालक की चेष्टाओं में भी सत्य का दर्शन करते रहते थे। उनकी इस पोथी में सत्य की खोज सम्बन्धी २३ लेखों का संकलन है। अनेक प्रकार के रिवाजों, विश्वासों, धार्मिक मान्यताओं की तह में जाकर उन्होंने बताया है कि सत्य ग्रन्थ, पंथ या व्यक्ति-विशेष में आबद्ध नहीं है, वह प्रवाही तत्त्व है, जिसकी निर्मलता बहते रहने में है। सत्य शाब्दिक सिद्धान्त नहीं है, वह तो प्रत्येक व्यक्ति का प्रति पल का निजी अनुभव है। महात्माजी की इस पुस्तक को पढ़कर श्रद्धालु तथा परम्परावादी जन विचलित तो अवश्य होंगे। यह इस पुस्तक के लिए दूषण नहीं, भूषण ही है। यह पुस्तक किसी की श्रद्धा या मान्यता को डिगाने के लिए नहीं लिखी गयी है, पर अपनी श्रद्धा को विज्ञान की सत्य की कसौटी पर कसने की प्रेरणा पैदा करने के उद्देश्य से लिखी गयी है। इस दृष्टि से इस पुस्तक का विशेष महत्व है। दूसरे, इसमें अपनी मान्यताओं और विश्वासों के प्रति एक नये ढंग से सोचने और जीने की प्रेरणा मिलती है। इससे कतराने, भागने या घबराने की कमजोरी के शिकार न बनकर गहराई से सोचा जाये तो पाठक अनुभव करेंगे कि उनके विचार-क्षेत्र का दायरा काफी विशाल और विस्तृत होता जा रहा है।' यदि एक वाक्य में कहा जाए तो प्रस्तुत पुस्तक पठनीय/मननीय होने के साथ ही स्वाध्याय के लिए मौलिक/प्रेरक सामग्री से समृद्ध/सम्पन्न है। **—तीर्थंकर मासिक**

४. कलश और ईंट-पत्थर

एक मन्दिर के पास से होकर गुजरा तो फुसफुसाहट सुनाई दी। इधर-उधर ताका, कोई दिखाई नहीं दिया। पर फुसफुसाहट बन्द न हुई। ऊपर नज़र फेंकनी पड़ी। पता लगा मन्दिर का कलश बोल रहा है। कानों को विश्वास नहीं हुआ। पर बुद्धि ने तुरन्त कान ऐंठकर विश्वास करने के लिए बाध्य किया और मैं सुनने लगा।

कलश गुम्बद की किसी ईंट के उत्तर में कह रहा था 'अरी ईंट, मैं कुछ यों ही तो ऊपर नहीं हूँ। यों तो मूल में तू भी मिट्टी है और मैं भी मिट्टी हूँ, पर मैंने बड़ी तपस्या की है।'



ईंट बोली, 'जब से तुम तभी से मैं। मैं भी बराबर तपस्या करती चली आ रही हूँ। इसी जनम में खुदकर आई, कुटी, पिसी, खुंदी, भट्ठे में तपी, वसूली की मार सही, जो सैकड़ों की ठोकरें सहीं वह तो गिनती में ही नहीं। तब कहीं यहाँ आ पाई।'

ईंट ने बोलना बंद भी न किया था कि नीचे से फुसफुसाहट सुनाई दी। नीचे की ओर कान किये, तो पता लगा नींव का पत्थर तुनककर कह रहा था, ''ईंटरानी, तुम ठीक कह रही हो। तपस्या में मैं और मेरे साथी किसी तरह कलश से कम नहीं, कलश ने तो तपस्या की है, और हम तुम कलश की ही उम्र के हैं, पर कलश तो अब तपस्या नहीं कर रहा, मौज उड़ा रहा है, तुम्हारे और हमारे सिर पर सवारी गाँठे हुए है, और ऐंठ दिखा रहा है, अपने कभी तपस्वी होने की डींग हाँक रहा है। हम दोनों तो आज भी तपस्या कर रहे हैं।''

कलश उसे आगे न बढ़ने देकर घुड़ककर बोला "चुप रहो, तुम्हें हमारे बीच में बोलने का अधिकार नहीं। यह बेअदबी और गुस्ताखी है। तुम इसी लायक हो कि जिस तुच्छता से तुम उत्पन्न हुए हो, उसी तुच्छता में भेज दिये जाओ। इसीलिए तो तुम्हें जमींदोज कर दिया गया। कहाँ ईंट, कहाँ तुम! वह मेरी बराबरी की है, मेरे पास आसीन है। उसकी तपस्या तुमसे कहीं ज्यादा है।"

और फिर ईंटरानी की ओर फिरकर बोला, "हाँ, तो ईंटरानी, यह निरी तपस्या ही नहीं, जिसके बल पर मुझे ऊँचा स्थान मिला। मैंने बड़े श्रम से अनेक गुणों की कमाई की है। मेरा चन्द्रमा जैसा पीला रंग है। मैं लोहे और जाँदी से भी भारी भरकम हूँ, मुझमें चमक है, दमक है। इन्हीं गुणों के कारण मैंने अपना ऊँचा स्थान बनाया है, अपनी मेहनत और अपने गुण से बनाया है। मुझे तुम पर हुक्म चलाने का अधिकार है। तुमको चुपचाप मेरी मातहती में जैसा मैं हुक्म दूँ, वैसा करते रहना चाहिए।"

ईंट ने उत्तर देने को मुँह खोला ही था, दो-एक शब्द भी कहे थे कि गुण तो उसने भी कमाये हैं, पर बीच ही में नींव का पत्थर बोल पड़ा था कि "ईंटरानी उत्तर देने से क्या लाभ ? हम नीच तो नीचे ही रहेंगे और यह ऊँच तो ऊँचा ही रहेगा। ज्यादा अच्छी बात यही है कि हम इसे अपनी तपस्या अपने गुणों और अपनी मालदारी पर छोड़ें। अपना अलग कहीं स्थान न बनायें।" यह कहकर नींव का वह पत्थर नींव से निकलकर बाहर चलने के लिए जैसे ही तैयार हुआ, सारे पत्थर उसके साथ हो गये। तुरन्त मन्दिर की दीवारें और गुम्बद खिसके। कलश का तो कहीं पता ही न चला। थोड़ी देर में मलबे के अन्दर से आवाज आई—**न तपस्या कोई चीज है न गुण कुछ चीज हैं, न मालदारी कोई चीज है, यह तो जनता का प्रेम और भक्ति ही है जिससे मैं ऊँची जगह बनाये हुए था और दुनिया की नजरों में बढ़िया धातु समझा जाता था।** ●

५. दायें-बायें

पति—तुम्हें पता है कि हम पुरुष जब किसी लड़की से विवाह करते हैं, तो उसे बायीं ओर क्यों करते हैं ?

नारी—इसलिए कि जब तुम पर आफत आवे तो मैं आड़े आ सकूँ।

पति—क्या मतलब ?

नारी—मतलब तो बहुत साफ है। जरा सोचो तो समझ में आ जायेगा।

पति—मैंने सोचा, पर तुम्हारी यह कोमल देह आड़े समय में मेरी रक्षा करने में कैसे सहायक हो सकती है ?

नारी—ढाल मुलायम होती है या तलवार ?



पति—मुलायम तो ढाल ही होती है, फिर भी वह गेंडे की होती है, काफी कड़ी होती है। तुम इतनी कड़ी तो नहीं हो ?

नारी—रूई मुलायम होती है या तलवार ? तुम्हें पता है, रूई के गाले को तलवार नहीं काट सकती। रूई-गाला दबना जो जानता है।

पति—खैर, यह सब तो ठीक, पर इसका न दायें-बायें से सम्बन्ध है, न आड़े आने से कोई सम्बन्ध है।

नारी—दायें-बायें से सम्बन्ध है, क्योंकि मैं तुम्हारी अपेक्षा बायें जरूर हूँ, पर सामनेवाले की अपेक्षा मैं दायें हूँ और तुम बायें हो और आड़े आने

के खयाल से सामनेवाले का सीधा हाथ पहले मुझ पर पड़ेगा और मैं तुम्हें ढाल की तरह बचा लूँगी।

पति—हँ...हँ...हँ... यदि मारनेवाले ने पीछे से थप्पड़ मारा तो पहिले किसके गाल पर पड़ेगा ?

नारी—वह पड़ेगा तो तुम्हारे ही गाल पर, पर उसे तुम हँसते-हँसते सह सकोगे।

पति—क्या मतलब ?

नारी—मतलब यही कि पीछे से वार करनेवाला या तो तुम्हारा दोस्त हो सकता है, जो जोर से कभी नहीं मारेगा। या फिर कायर या दुश्मन हो सकता है और कायर का हाथ डरा हुआ पड़ता है। उसमें जोर नहीं रह जाता।

पति—तुम्हारी सूझ अजीब है।

नारी—सूझ नहीं है, यह सचाई है। इससे भी बढ़कर यह सचाई है कि जो ऊपर से कड़े होते हैं वे अन्दर से कमजोर होते हैं। कहावत तो यह है कि पुरुष नारी का हाथ पकड़ता है। पर सच यह है कि नारी पुरुष का हाथ पकड़ती है।

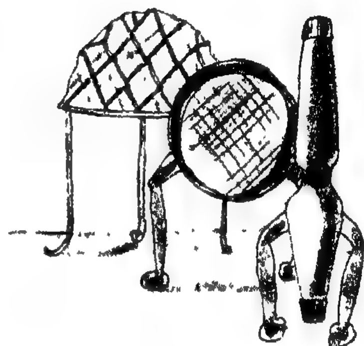
पति—क्या कहा ?

नारी—यही कि पुरुष नारी को बायीं ओर करके उसे बायें हाथ से पकड़े रखता है। बायें हाथ की पकड़ ढीली होती है। तभी तो पुरुष नारी को धोखा देता है। उसे छोड़कर कहीं भी चल देता है। यह उसकी भीतरी निर्बलता है, जो नारियल की तरह स्वाभाविक है। नारी बायें आकर नर को दायें हाथ से पकड़ती है। दायें हाथ की पकड़ मजबूत होती है। तभी तो सही या गलत, आग में कूदकर स्वर्ग या नर्क में भी पुरुष के साथ जाने को तैयार रहती है। वह बाहर से मुलायम है। अन्दर से कड़ी है। जैसे बेर। दुनिया के लिए हम नारियाँ ही दायें हैं और तुम पुरुष बायें। प्रकृति में यह प्रबंध सोच-समझकर किया गया है। 

६. अनोखे यात्री

दिवाली आने को थी। मैं घर की पुताई में लगा था। रसोईघर में जब छत पोतने का इरादा किया तो छत से लटके छींके को खोलकर नीचे रख दिया और पुताई में लग गया।

पुताई का काम पूरा करके काठ की नसैनी से जैसे ही नीचे उतरा तो देखा कि छींका छत्री की तरह उल्टा होकर अपने तीन पैरों पर खड़ा है। मैं सोचूँ-सोचूँ कि वह बाहर चल पड़ा। मैं उसके पीछे हो लिया। आँगन के एक कोने में चलनी रखी थी। वह लुढ़ककर छींके के पास आ गई और बोली, 'छींके दादा, कहाँ चले ?'



'कहाँ क्या चले, गंगा नहाने जा रहे हैं।' छींके ने उत्तर दिया।

'गंगा नहाने ! किसलिए !' बोल उठी चलनी।

'यही पाप गँवाने या पाप काटने। तुम्हें पता नहीं, मैं बहुत बदनाम हूँ। लोग कहते हैं कि बिल्ली के भागों छींका टूट पड़ा। चलनी दीदी, तुम्हीं कहो मैं कौन-से दिन बिल्ली के भागों टूटा हूँ। यह बदनामी तो गंगा नहाकर मिटानी ही चाहिए।'

चलनी बोली, 'दादा तुम ठीक कहते हो। मैं भी तुम्हारे साथ चलती हूँ। मैं भी तो बदनाम हूँ। चलनी में दुहे और किस्मत को टटोले। क्या कभी किसी ने मुझमें दूध दुहकर अपने भाग्य की आजमाइश की है ? इस झूठे अपवाद को गंगा नहाकर सर से दूर करना ही चाहिए।'

दोनों जैसे ही आगे बढ़े, कोने में खड़ा मूसल गिर पड़ा। और लुढ़क-लुढ़ककर इन दोनों यात्रियों के पास आकर बोला, 'मैंने तुम्हारी बातें सुन

ली हैं। मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ। मैं भी पापी हूँ। जिसे देखो, यह कह बैठता है 'दाल-भात में मूसलचंद'। कोई बताये तो कि मैं कब किसके दाल-भात में कूदा।' दोनों बोल उठे, 'ठीक, ठीक ! आइये, आइये, दादा आइये ! दो से तीन भले, अच्छा साथ रहेगा।'

मैं कुछ न बोला। दिवाली की पुताई छोड़ मैं इन्हींके पीछे हो लिया। जब ये तीनों गंगातट पर पहुँचे तो गंगामाता दाँतों तले अँगुली दाब आँखें फाड़-फाड़ इन नये यात्रियों को देखने लगी। वे समझ ही न सकी कि ये निष्पाप यात्री यहाँ क्यों आये हैं।

जब वे बिलकुल पास आ गये और डुबकी लगाने की तैयारी करने लगे, तब गंगामाता अचरज का जामा उतार, मुसकराहट का जामा पहनकर उनसे हँस- हँसकर पूछने लगी, 'हे नये यात्रियों, तुम किस पाप को धोने के लिए यहाँ आये हो ?'

छींका बोला, 'मैं बिल्ली के भागों टूट पड़ने के लिए बदनाम हूँ, यह बदनामी धोने आया हूँ।'

चलनी बोली, 'मुझमें दुहकर किसी ने किस्मत को नहीं टटोला और मेरे पीछे यह अपवाद लग गया है कि 'चलनी में दुहे और किस्मत को टटोले।' इस अपवाद से मुक्त होने के लिए माता तुम्हारे पास स्नान करने आई हूँ।'

मूसल बोला, 'दाल-भात में मूसलचंद' यह बेबात की बदनामी मुझसे अब सही नहीं जा रही। इसलिए मैं इन भाई-बहिन के साथ हो लिया और अपनी बदनामी धो डालने का अवसर पा गया।' यह कहकर मूसल ने गंगामैया को साष्टांग दण्डवत की।

सबकी सुनकर गंगा मैया खिलखिलाकर हँस पड़ी। बोली, 'इस जगत में जो बदनाम नहीं ऐसा कोई है ही नहीं, पाप के बिना अस्तित्व कैसा ?'

तीनों यात्री एक स्वर में बोल पड़े, 'इस नियम के अनुसार तो माताजी तुम भी बदनामी से मुक्त न होगी ?'

गंगा मैया बोली, 'हाँ हाँ, मैं कैसे मुक्त रह सकती हूँ। सभी तो कहते हैं ऐसे तेरे नीचे गंगा बहे।' ●

७. होता कि समझ होती !

एक जगह बारात की महफिल जमी हुई थी। गाना-बजाना हो रहा था। उसी महफिल में एक सेठ सफेद दुशाला ओढ़े बैठा था। वह गाने की हर तान पर कभी मुसकराता, कभी हँसता और कभी खिलखिला उठता। वह बाराती तो था ही। पर साथ ही साथ रसिया भी था। एक तो बारात और फिर फागुन की बारात। फिर फाग से कैसे बचा जा सकता था। पर महफिल में फाग की कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उसका छोटा पोता उसके साथ आया था। वह गाने-बजाने में कोई रस नहीं ले रहा था। एक से ज्यादा बार उसने जमुहाई ली और उठकर बाहर खेलने लगा। थोड़ी देर



तो वह बच्चों के साथ खेलता रहा। बच्चों ने उस पर रंग डाल दिया और रंग भी तेलमिला काला। बच्चे नबाब होते हैं, नासमझ होते हैं, इसलिए महान त्यागी भी होते हैं। वे नुकसान में ऐसे ही हँस लेते हैं, जैसे बड़ी उमरवाले नफे में। इसलिए उस लड़के ने अपने कपड़े काले हो जाने का कोई दु:ख न माना। जब खेल से उसकी तबियत ऊब गई तो बाहर फिरते एक भेड़ के बच्चे को गोदी में लेकर अपने बाबा की मसनद के पीछे आ बैठा। भेड़ के बच्चे को थोड़ी देर तो उसने गोद में बिठाया और इस तरह उसके बालों को काला रंग दिया। क्योंकि उसके कपड़ों का रंग न सूख

पाया था और न सूख सकने की कोई जल्दी आशा थी। उसने कुछ क्षण के बाद भेड़ के बच्चे को वहीं पास बिठा लिया जो न जाने क्यों इस तरह चुपचाप बैठ गया, मानो वह दार्शनिक हो और इस असार संसार पर संन्यासी के दृष्टिकोण से विचार कर रहा हो।

थोड़ी देर में न जाने बच्चे को क्या सूझा कि बाबा की गोद में कूदकर जा बैठा। बाबा गाने का रस ले रहे थे। क्षणेक तो उन्हें पता ही न चला कि उनका पोता गोद में आ बैठा है। पर तान के अन्त में जैसे ही उनकी निगाह अपने दुशाले के काले धब्बे पर गई और उसके बाद अपने पोते के कपड़ों पर गई, वैसे ही वे अपना सब ज्ञान गँवा बैठे। क्रोध में भरकर अपने तीन-चार बरस के पोते को लगे बेतहाशा पीटने। उन्हें यह भान ही नहीं रहा कि वे कहाँ बैठे हैं।

इस दृश्य ने सारी महफिल पर सन्नाटा छा दिया। मिनटभर या शायद इससे कुछ कम पलों में सारी महफिल को लकवा मार गया। लोगों की साँस तक सुनाई देने लगी। सेठ का गुस्सा कम होने की जगह फिर उबला। बालक की पिटाई फिर शुरू हुई। अब की बार दो-चार लोगों ने बालक के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की। दो-एक ने हिम्मत करके सेठ को सख्त-चुस्त भी कहा। सेठ ने अपने कीमती दुशाले के बिगड़ जाने की बात कही।

जब यह सब हो रहा था, उसी समय मेरे कान में भनक पहुँची कि भेड़ का बच्चा मन ही मन हँस रहा है और कह रहा है कि ये देवतास्वरूप आदमी भी कैसे प्राणी हैं। क्यों ईश्वर आदमी के रूप में अवतार लेना पसंद करता है। जिस आदमी का यह हाल है कि मेरी पश्म के बने हुए दुशाले के लिए जो मेरी छाती पर उगती है और जिसे लेकर मैं कहीं भी धूल और कीचड़ में बैठ जाता हूँ और मेरी माँ मुझे कुछ नहीं कहती ! होता कि इस सर्वश्रेष्ठ प्राणी आदमी में मेरी जितनी समझ होती! ●

१३.२.६०

८. संगठन भी विनाश का कारण

सींकों का एक जंगल खड़ा था। उसके पास से जब मैं निकला तो देखा कि हँसिया लिये हुए एक आदमी खड़ा है और सींकों की ओर ऐसे देख रहा है मानो सींकें कुछ बोल रही हों और वह सुन रहा हो। मैं रुककर उसे देखने लगा। कुछ ही क्षण बीते कि हँसियेवाले आदमी के ओंठ हिले। कानों को लगा कि वह कुछ बुदबुदा रहा है। अब मैं भी सिर से पैर तक कान बन गया और अब मुझे सब सुनाई देने लगा।

काटनेवाला—हे सींको, मैं तुम्हें काटना चाहता हूँ, पर मैं तुम्हें तुम्हारी आज्ञा के बिना नहीं काटूँगा।

(सींकों में से एक) सींक बोली—आज तक तो किसी मनुष्य ने हमसे इस तरह पूछा नहीं। तुम ऐसा क्यों पूछ रहे हो ?



काटनेवाला—अपवाद ही सही, और मैं हूँ भी अपवाद, पर अगर ऐसा करता हूँ तो बुरा क्या करता हूँ ?

सींक—तुम बुरा न करते सही, पर ऐसा प्रश्न तो जरूर कर रहे हो जिसमें कोई तुक नहीं। इसी तरह का प्रश्न अगर तुमसे कोई करता, तो तुम्हें अचरज होता या नहीं ?

काटनेवाला—होता, न भी होता।

सींक—होता, न होता इससे तुम्हारा क्या मतलब ?

काटनेवाला—यही कि अगर वह मेरी भलाई के लिए मेरा सिर माँगता तो मुझे कोई अचरज न होता। मैं सोच-समझकर उसे इजाजत दे देता और अपना सिर काट लेने देता। लेकिन अगर वह अपने स्वार्थ के लिए या मन

बहलाव के लिए इस तरह का प्रश्न करता तो मैं जरूर अचरज में पड़ जाता और उसे निरा धूर्त समझता।

सींक—अहा-अहा-अहा! तो तुम हमारी भलाई के लिए काटने आये हो! क्या खूब! क्या है वह भलाई, जरा सुनूँ तो।

काटनेवाला—यही कि तुम यहाँ खड़ी-खड़ी नष्ट हो जाओगी। हाथी, घोड़े और दूसरे पशुओं के पाँवों से कुचल-कुचलकर नष्ट हो जाओगी। या फिर तुम्हें पशु चर डालेंगे और अगर मैं तुम्हें काटकर ले जाता हूँ तो तुम्हें झाड़ू के रूप में संगठित कर दूँगा। तुम बलशाली बन जाओगी। ईश्वर के मंदिर में, राजा के महल में, आदमियों के घरों में स्थान पा सकोगी। अगर तुम्हारा बक्स बन गया या टोकरी बन गई तो तुम लोगों के काम आ सकोगी। अगर तुम्हारा टोप बन गया तो तुम विदेशी मेमों के सिर को अलकृत कर सकोगी। तुम्हें आदर का स्थान मिल जायेगा, आदर बढ़ जायेगा और अगर आदमी ने तुम्हारा रस्सा बट लिया तो उससे वे हाथी और जानवर भी बाँधे जा सकेंगे जो तुम्हें कुचलकर नष्ट करते। यही सब सोचकर तो मैं तुमसे आज्ञा माँग रहा हूँ।

सींक—एक या संगठित होकर अगर हम झाड़ू बन गई तो सम्भव है हमारी जीवन की कुछ घड़ियाँ लम्बी हो जायें। पर उस अवस्था में तो हमको रोज घिस-घिसकर मरना पड़ेगा। जिसे तुम संगठन कहते हो, वह हमारे लिए बंधन है। जिसको तुम रस्सा कहते हो, वह हमारे लिए ऐंठन है। जिसे तुम टोप या टोकरी कहते हो वह हमारे लिए जकड़न है। अब तुम्हीं कहो कि हम उसके लिए कैसे तैयार हो सकती हैं ? बहादुरी के साथ क्या यहीं मर-मिटना क्या सबसे ज्यादा अच्छा नहीं है। प्यारे मनुष्य, क्या ही अच्छा हो कि तुम हमें यहीं मिट जाने दो और उसीमें मिल जाने तो जिससे हम उत्पन्न हुई हैं।

यह सुनकर आदमी चल दिया। उसने सींके नहीं काटीं। पर मैं अचरज में पड़ गया और मन ही मन कहने लगा कि एकता और संगठन भी विनाश के कारण हो सकते हैं और दुखदायी कारण हो सकते हैं। ●

९. सरिता और सरोवर

बसन्त समाप्त होकर गर्मी ने अपने पाँव जमाये ही थे कि एक दिन अकेला जंगल में जा निकला और ऐसी जगह पहुँच गया जहाँ एक ओर किलकिल करती नदी बह रही थी और मेरे दूसरी तरफ स्वच्छ निर्मल जल का सरोवर लहरा रहा था। मैं जहाँ बैठा था, वहाँ एक पीपल का पेड़ था। उसकी ठंढी छाया खुले मैदान की खुली हवा इतनी सुहावनी लगी कि मैं वहीं घास पर लेट गया। ठीक बारह बजे वह जगह निर्जन हो गई। नदी के किनारे चरते पशु यत्र-तत्र पेड़ों के नीचे बैठकर जुगाली करने लगे। ग्वाला झपकी लेने लगा। चारों ओर शान्ति छा गई। इतने में कान में आवाज पड़ी तो इधर-उधर देखा, पर कोई दिखाई न दिया। ध्यान लगाकर सुनने से पता चला कि सरोवर नदी को बड़े गम्भीर शब्दों में सीख दे रहा था।




सरोवर—'दीदी सरिता, उदारता है तो अच्छी चीज, पर उसकी सीमा रखनी चाहिए।'

सरिता—'दादा सरोवर, तुम बिलकुल ठीक कहते हो। तुम्हारी बात मुझे सोलहों आने जँचती है, पर तुम जानते हो कि मैं उदार पिता पर्वत की बेटी हूँ। मेरे पिता के पास जल के खजाने को दबाये रखने के बड़े-बड़े साधन हैं। पर वे दबाकर रखना सीखे ही नहीं। उन्होंने बरफ की चोटियों को यह सीख दी है कि तुम मोटी न रहकर दुबली होने का प्रयास करती रहो। तभी तुम बड़ी उम्र पा सकती हो। अमर भी हो सकती हो। पुनर्जन्म से बच सकती हो। यही सीख मेरे पिता ने अपने उन सरोवरों को दी है, जो उनकी

छाती पर विद्यमान हैं। उनमें भरे जल को उन्होंने सलाह दी है कि तुम अपने बाँध तोड़-तोड़ कर बहो, लोगों के काम आओ, समुद्र तक की सैर करो। दादा सरोवर, ऐसी ही सीख के वातावरण में मैं पली हूँ। इसलिए तुम्हारी सोलहों आने सच्ची सीख पर चाहते हुए भी अमल नहीं कर सकती।'

सरोवर—'दीदी ! तुम्हारा अपना भी तो अस्तित्व है। तुम्हें स्वयं भी तो सोचना चाहिए। और फिर तुम्हारी उदारता तो ऐसी है, जिससे अपात्र तो क्या कुपात्र समुद्र लाभ उठा रहा है। न जाने तुम क्यों उस पर उदारता की वर्षा करती हो, जिसे उसकी जरूरत नहीं।'

सरिता—'मैं तुम्हारी रत्ती-रत्ती बात समझती हूँ और उसे पूरी सही समझती हूँ। पर बहने के स्वभाव से मजबूर हूँ। नहीं चाहते हुए भी मुझसे उदारता हो जाती है।'

सरोवर—अन्त में तंग आकर बोला—'अब तुम जानो, तुम्हारा काम जाने। मैं तुम्हें सीख दे चुका। नहीं मानोगी तो पछताओगी।'

मैं यह सुनकर सरोवर से सीख ले बैठा। सारी उदारता खो बैठा। यहाँ तक कि थोड़ा-बहुत कंजूस बन बैठा। महीने दो महीने में बैंक में मेरा खाता खासा भारी हो गया। जेठ की दोपहरी में चिलचिलाती धूप में मैं अपने सरोवर गुरु के चरणस्पर्श के लिए पहुँचा। देखता हूँ सरोवर के बहुत बीच में मेरे पाँव डुबाने लायक पानी है। शेष सारा सरोवर सूखा पड़ा है। जल के कुछ प्राणियों की हड्डियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं। थोड़े से कीचड़ भाग में मछलियाँ तड़प-तड़पकर दम तोड़ रही हैं। मैं कुछ समझ ही न पाया। पहले तो मैं यह समझा कि जिस तरह साधु समाधिस्थ हो जाते हैं, वैसे ही मेरा गुरु सरोवर विलीन हो गया है या अन्तर्धान हो गया है। इन्हीं विचारों में मैं पीपल के पेड़ के नीचे फिर लेट गया। वैसी ही शान्ति फिर छा गई। अब की बार क्या सुनता हूँ कि सरिता दीदी सरोवर को उपदेश दे रही थीं। कह रही थी कि कंजूसी की हद होती है। **बहने से रुकना तो गंदा होना है। आदमी भी पानी पीकर पेशाब करता और पसीना निकालता है।** इन दोनों के बंद हो जाने से आदमी जीवित नहीं रह सकता। हे सरोवर दादा, अगर तुम पास की धरती को जल देते रहते तो सूख तो फिर भी जाते, पर नाम कर जाते। मैं घर आकर दीदी सरिता की सीख पर अमल करने लगा और अब खुश हूँ, पहले से ज्यादा स्वस्थ हूँ, पहले से ज्यादा धनी भी हूँ। ●

१०. अनोखी सचाई

एक सज्जन थे। खाते-पीते घराने में जन्मे थे। कॉलेज में पहुँचते ही उन्हें सूझा कि अगर अंग्रेजी पढ़ना है तो भारत में क्या पढ़ना। लन्दन जाना चाहिए। आठ-दस महीने में यह विचार पूरी तरह पक गया। पिता से पैसे प्राप्त किये। लंदन जा पहुँचे। लन्दन पहुँचे चालीस दिन भी न बीते होंगे कि घरवालों को पत्र मिला। पत्र में लिखा था कि वे वहाँ एक कॉलेज में प्रोफेसर हो गये हैं। यह एक ऐसी खबर थी जिस पर न उनके पिता विश्वास कर सकते थे, न उनके छोटे-बड़े भाई। रात को आठ बजे मोहल्ले के लोग इकट्ठे हुए। उनके सामने भी वह पत्र पढ़ा गया। किसीको भी विश्वास न हुआ। मस्तिष्क पर बहुत जोर देने पर आगन्तुकों में से दो-एक सज्जन बोल पड़े, हो सकता है अंग्रेज विद्यार्थियों को पढ़ाने के लिए हिन्दी के प्रोफेसर हो गये हों। यह बात सबको जँच गई। घरवालों ने या किसी और ने इस विषय में पूछताछ की आवश्यकता नहीं समझी। बात आई-गई हो गई।

तीन या चार वर्षों बाद फिर एक अपने ढंग का अनोखा पत्र आया। लिखा था कि वे लंदन के एक कॉलेज में पहले साल में दाखिल हो गये हैं। पढ़ाई अच्छी चल रही है। इस पत्र को भी न उनके पिता ठीक-ठीक समझ पाये, न उनके छोड़े-बड़े भाई।

पहले की तरह रात को फिर मोहल्ले की पंचायत बैठी। नया पत्र उनके सामने पेश हुआ। पर पंचायत में से कोई भी कुछ न समझ पाया। तय हुआ कि पत्र लिखकर उन्हीं से इस रहस्य के खोलने की प्रार्थना की जाय।

पत्र लिख दिया गया। कोई तीसेक दिन के बाद उत्तर आया : विद्यार्थी गुरु को पढ़ाता है, क्योंकि विद्यार्थी के प्रश्नों के उत्तर देने में गुरु को एड़ी-चोटी का जोर लगाना पड़ता है, इससे उसकी बुद्धि बढ़ती है। फिर विद्यार्थी को गुरु क्यों न माना जाय ? मैं जब कॉलेज में दाखिल हुआ तो इस नियम के अनुसार मैं प्रोफेसर या प्राध्यापक हुआ या नहीं ? अब मैं एक कॉलेज में फर्स्टइयर में लेक्चरर हो गया हूँ। इसलिए अपने नियम के अनुसार अब मैं फर्स्टइयर का विद्यार्थी हूँ। उन सज्जन का यह उत्तर सुनकर कुछ तो मुसकरा दिये, कुछ हँस पड़े, कुछ खिलखिला उठे। ●

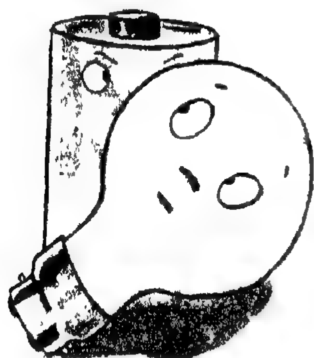
११. बल्ब और बैटरी

बैटरी—कहो बेटे, तुम ठीक तो हो ? तुम्हारी नसें दर्द तो नहीं करतीं ?

बल्ब—तुम कौन हो ? तुम्हें मुझे बेटा सम्बोधन करने का क्या अधिकार है ? जरा मेरे रंग-रूप को देखो और अपनी ओर नजर डालो, कुछ भी तो नहीं मिलता।

बैटरी—तो तुम मुझे बिलकुल भूल गये ?

बल्ब—यह कहना ज्यादा ठीक रहेगा कि तुम मुझे नहीं पहचान सकी। यह ठीक है कि मुझे अपनी माँ का ध्यान नहीं है। मुझे याद नहीं मैं उनसे कब अलग हुआ, पर मेरी माँ मेरे अनुरूप तो होनी चाहिए। तुम्हारा बेटा तुम्हारे अनुरूप।



बैटरी—यह न्याय तो सही नहीं। हरे और काँटेदार बूटी का फूल बहुत सुन्दर और मुलायम होता है। बड़ी सुन्दर दीपक की लौ का पुत्र काजल एकदम काला होता है।

बल्ब—शेरनी हाथी को जन्म नहीं देती। हथिनी शेर नहीं जन सकती। गाय बछड़ा जन सकती है, पर पाड़ा नहीं जन सकती। हाँ, हो सकता है कि काली गाय सफेद बछड़ा जने, पर सफेद बछड़ा काली गाय के अनुरूप तो होगा। तुम काली हो, तुम सफेद पुत्र को जन्म दे सकती हो। वह मेरे जैसा सुन्दर भी हो सकता है, पर होना तो तुम्हारे अनुरूप ही चाहिए ? बताओ तो तुम हो कौन ?

बैटरी—इसका तो यह मतलब हुआ कि मेरा तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। मैं तुम्हारी बात सच माने लेती हूँ। और अपना सम्बन्ध और लगाव सब तुमसे तोड़ लेती हूँ। अब रही यह बात कि मैं कौन हूँ, इसका पता

चार-आठ पहर में तुम्हें लग ही जायेगा। पर कम-से-कम यह तो बता दो, नहीं-नहीं कृपा करके यह बता दीजिये कि आप हैं तो पूरे स्वस्थ ?

बल्ब—मेरे स्वस्थ-अस्वस्थ होने से तुम्हें क्या मतलब ? अब तो आप आठ पहर की चुनौती दे चुकी हैं। जाइये, अपना रास्ता नापिये।

दूसरे दिन देखा गया कि बल्ब बैटरी के पाँव में पड़े क्षमायाचना कर रहे थे। ●

बोधकथा

काश, मैं भिखारी होता !

मेरे एक मित्र बोले—'मैंने छह आने में एक रिक्शा ठहराया। चलते-चलते मुझे जहाँ पहुँचना था, वहाँ पहुँचने में मामूली से ज्यादा देर लग गयी। मैं मन-ही-मन सोचने लगा, छह आने किराया तो कम ही रहा।

ऐसा मैंने क्यों सोचा ? शायद इसकी वजह यह रही हो कि मुझे मेरे मालिक कहीं जाने के लिए पहले दर्जे का डबल किराया देते हैं। हो सकता है, अगर मेरी जेब भारी होने की जगह हलकी होती तो छह आने भी ज्यादा मालूम होते।

कुछ भी सही, मैंने यह तय कर लिया कि अपनी जगह पहुँचकर एक अठन्नी उसको देना है और ऐसा ही मैंने किया।'

रिक्शे वाला ज्यों ही दुअन्नी वापस करने लगा, मैं बोल उठा—'इसे अपने पास रखो।'

वह बोला—'साहब, छह आने ठहरे हैं, मैं दुअन्नी कैसे रख सकता हूँ ?'

मैंने कहा—'मेरी तरफ से इनाम समझो।'

वह बोला—'इनाम कैसे ?'

मैंने कहा—'सभी रिक्शा वाले इनाम तो लेते हैं।'

वह बोला—'ले लेते होंगे। पर यह तो बताइये कि यह इनाम किस बात का दिया जा रहा है ? मैंने तो कोई इनाम का काम नहीं किया।'

मैंने कहा—'इतनी दूर लाये हो। क्या यह इनाम का काम नहीं है।'

वह बोला—'आपको मुफ्त तो लाया नहीं हूँ। उसी मेहनत के तो आप से छह आने प्राप्त किये।'

मैंने कहा—'तो फिर दान सही।'

वह बहुत विनम्र होकर बोल पड़ा—'काश ! मैं ब्राह्मण या भिखारी होता !'

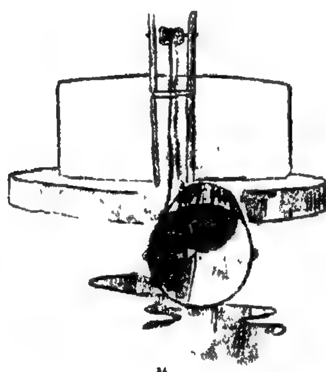
—महात्मा भगवानदीन

१२. सीख का लेन-देन

एक मौलवी साहब अपने शागिर्द को सीख दे रहे थे कि जब कोई आस्तीन चढ़ाता हुआ तुम्हारी ओर लपके तो समझना चाहिए कि वह तुमसे गुस्सा है और तुमसे बदला लेने आ रहा है।

बालक ने यह सीख गाँठ बाँध ली।

कुछ ही दिनों बाद गर्मी के मौसम में एक दिन यही शागिर्द कुएँ पर लोटा-डोर लेकर गया। कुएँ में लोटे को पानी में डुबोया और खींचने ही को था कि सामने से आते हुए उसे अपने मौलवी साहब दिखाई दिये। उन्हें देखकर वह कुछ घबराया। लोटे की डोरी पर उसके हाथ की पकड़ कुछ



ढीली हुई। उसकी निगाह मौलवी साहब पर थी और उसके हाथ लोटा खींचने में लगे थे। पकड़ ढीली होने से परिणाम यह होना था कि लोटा इतना ऊपर न आता था जितना नीचे खिसक जाता था। वह बड़े असमंजस में था। उसकी घबराहट क्षण-क्षण बढ़ती जा रही थी। उसके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। उसके रोंगटे खड़े हो गये थे। उसकी देह में कँप-कँपी छूट रही थी। वह जिस बला में फँसा हुआ था, उसमें से निकलने के लिए उसे कुछ सूझ ही न रहा था।

बात यह थी कि मौलवी साहब पैदल ही किसी गाँव गये थे। पैदल ही लौट रहे थे। जेठ का महीना था। पसीने से तर थे। प्यास से गला सूखा जा रहा था। जैसे ही उनकी नजर अपने शागिर्द पर पड़ी, उनमें दम आ गया। उन्हें ऐसा मालूम होने लगा मानो पानी की धार ने उनकी तरफ आना शुरू कर दिया है और अभी-अभी उनके मुँह तक पहुँचनेवाली है। इसी खयाल से अपनी आस्तीन चढ़ा रहे थे। ये सोचते जा रहे थे कि कुएँ पर पहुँचते ही कोहनियों तक हाथ धोएँगे, मुँह धोएँगे, पाँव धोएँगे और फिर जी भर पानी पियेंगे।

मौलवी साहब की आस्तीन चढ़ी हुई देखकर उस शागिर्द को मौलवी साहब की सीख याद आ गई थी। यही उसकी घबराहट का कारण था। विद्यार्थी की निगाह मौलवी साहब पर थी ही। हाथ अपना काम ज्यो-त्यों कर ही रहे थे। इतने में वह देखता है कि मौलवी साहब अपने पजामे के पहुँचे चढ़ा रहे हैं, अब उसका डर चोटी तक पहुँच गया। आव सूझा न ताव, लोटे की डोरी पकड़े हुए वह घर की तरफ दौड़ा। लोटा कुएँ के किनारे तक आया, बाहर किरा और रास्ते में पड़े पत्थरों से ठुकराता हुआ उसके पीछे-पीछे घिसटने लगा।

यह देख मौलवी साहब उसका नाम लेकर पुकार-पुकार कर कहने लगे 'ठहर-ठहर मैं अभी कुएँ पर पहुँचता हूँ। मैं बहुत प्यासा हूँ।'

मैं बहुत प्यासा हूँ ये शब्द तो विद्यार्थी के कान तक पहुँच ही न पाये। उसने जो शब्द सुने वे थे ठहर-ठहर मैं अभी पहुँचता हूँ। इससे उसका डर घटने की वजाय बढ़ा ही और टूटे-फूटे शब्दों में भागता भागता वह यही कह सका 'मुं-मुं-मुं-मुझे सी-सी-सी-सीख याद है।'

'सीख' लेना जितना मुश्किल काम है, सीख देना उससे भी ज्यादा मुश्किल है।



१३. मृदुलता को परखिये तो !

एक लोहार अपनी भट्ठी पर बैठा अपने अहरन पर नजर डाल रहा था। उसे देखते-देखते वह विचारों में डूब गया और कुछ ही देर में अहरन की प्रशंसा से उसका भावनामयी समुद्र तरंगित हो उठा। उसी आनन्द में वह झोंके लेने लगा। उसके मुँह से अचानक निकल पड़ा 'अहरन मेरी जान, अहरन मेरी रोजी, अहरन मेरा प्राण, अहरन मेरा सबकुछ।'

उन विचारों में से जब वह निकला तो उसकी नजर घन पर पड़ी। उस पर जो सोचने लगा तो उसका हृदय फिर तरंगित हो उठा। अहरन को भूल उसी को सबकुछ समझने लगा और उसके लिए भी उसी तरह का उल्लास जाग उठा।



थोड़ी देर में उसकी नजर छैनी पर पड़ी। उसके बाद आरी पर पड़ी। उसे भी देखकर उसके मन का वही हाल हुआ जो अहरन और घन के प्रति हुआ था। उसका एक कारण यह भी था कि ये सब चीजें उसी की मेहनत का फल थीं।

नजर तो उसकी भट्ठी पर भी गई, पर वहाँ जमी नहीं। भट्ठी के अन्दर क्या है, यह तो उसके ध्यान में भी नहीं आया। इतने में एक ग्राहक रेल का एक टुकड़ा उठा लाया। बोला, इसके जितनी जल्दी हो

सके दो टुकड़े कर दीजिये। यह कह ग्राहक वहीं बैठ गया और कुछ गुनगुनाने लगा।

लोहार ने अपने औजारों पर नजर फेंकी। घन से आँखें दो-चार हुई ही थी कि घन बोल उठा, 'मुझे उठाइये, मैं अभी इस रेल के दो टुकड़े किये देता हूँ।'

लोहार मन ही मन हँसा, पर घन को सीख देने के लिए उसने उसे उठा लिया और धड़ाधड़ रेल पर वार पर वार करने लगा। दो-तीन मिनट में ही घन का सिर झल्ला उठा और टूटकर अलग जा पड़ा। उसकी अकेली टाँग लोहार के दोनों हाथों में रह गई जिसको उसने दुकान के एक कोने में फेंक दिया।

औजारों पर दुबारा नजर फेंकी। आरी से जैसे ही आँख मिली कि वह बोल पड़ी, 'हाँ-हाँ, मुझे लीजिये, मैं अभी इस रेल के दो टुकड़े किये देती हूँ।'

लोहार मन ही मन हँसा। उसे उठा लिया। और लगा रेल को उससे चीरने। कुछ ही मिनटों में आरी के सब दाँत बेकार या टूट गये और वह पोपले मुँह की बुढ़िया बन गई। उसने साँय-साँय करके हार मानी और फिर उसको भी लोहार ने एक कोने में पहुँचा दिया। छैनी का भी यही हाल हुआ।

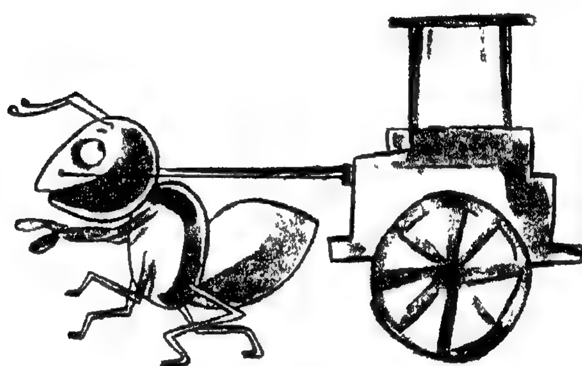
ग्राहक यह देख बोल उठा, लोहार महाशय अब क्या होगा ?

लोहार बोला, अब वही होगा जो होना चाहिए। कड़ाई असफल रही। अब मुलामियत से काम लिया जायेगा। **कठोरता जहाँ आम न आये वहाँ मृदुलता काम कर जाती है।**

ग्राहक लोहार के दार्शनिक कथन को कुछ समझ न पाया। पर उसने अपनी आँखों देख लिया कि वह रेल का टुकड़ा आग में रखा गया और मुलायम हो गया या यों कहिये कि पानी-पानी हो गया। अगर लोहार चाहता तो उसे पानी में तब्दील कर सकता था। पर उसने उसे अहरन पर रखा और मामूली औजारों की मदद से काटकर दो टुकड़े कर दिया। ●

१४. न कुछ

मैं स्वप्न देख रहा था कि चींटी मुझे घसीटे लिये चली जा रही है। घसीटे लिये जा रही है इसका अचरज तो मैं भूल गया। अचरज तो इस पर करने लगा कि वह मोटर की चाल से घसीटे चली जा रही है। मेरी देह जगह-जगह से खुरचती जाती है और जगह-जगह से खून की धार बह रही है। इतना ही अच्छा था कि वह मुझे पीठ के बल घसीट रही थी। कहीं पेट के बल घसीट रही होती, तब तो मैं जल्दी ही खतम हो गया होता या फिर आँख खुल गई होती।



हाँ, तो साहब यह घसीटना जारी है और जारी है। और मैं हूँ और मेरी लाचारी है। उठूँ तो उठ नहीं सकता, खड़े होने की तो बात ही क्या! आखिर चींटी की चाल धीमी पड़ी और उसकी पकड़ भी कुछ ढीली हुई। मैं जोर लगा कर उठा। मैं चींटी को पकड़ूँ-पकड़ूँ कि वह भाग गई। मैं स्वप्न में ही विचार करने लगा।

चींटी जैसा तुच्छ प्राणी मुझे कैसे घसीट सका ? चींटी ने अगर बड़ा रूप ले लिया होता तो भी यह सम्भव नहीं था। पर वह तो शुरू से आखिर तक उतनी ही छोटी बनी रही जितनी थी। छोटे प्राणी इतना बड़ा काम कैसे कर लेते हैं ? सोचते-सोचते मैं यह भी सोच गया कि अगर

चींटी इतनी बलशाली है, तो क्यों न इसका ताँगा बनाया जाय ? इसकी तो खुराक भी कुछ नहीं। इसके ताँगे से नफा ही नफा होगा। सोचते-सोचते ताँगा बन ही गया। चींटी ताँगे में जोती गई। कैसे जोती गई उसका पूरा-पूरा वर्णन तो कठिन होगा और फिर पूरा-पूरा याद भी नहीं रहा। पर हाँ, इतना याद है कि चींटी में जो पट्टा बाँधा गया था वह प्लैटिनम के तार का था। उसके जो लगाम लगाई गई थी उसका दहाना भी प्लैटिनम का था। लगाम का जो हिस्सा मेरे हाथ में था वह इतना ही मोटा था जितने रस्से होते हैं।

हाँ साहब, तो ताँगा चला। चींटी ने अपनी शेखी बघारना शुरू की। बोली, आदमी बेमतलब ही अपने को ताकतवर समझता है। अब तुमने देख ली मेरी ताकत। वह यह कह सरपट दौड़ी। ठोकर खाई, पट्टा टूटा, जोत भी टूटा, लगाम मेरे हाथ से छूटी, ताँगा उलटा। आँख खुल गई।

मैं चौंककर बैठ गया। इस असम्भव और बिलकुल झूठी अवैज्ञानिक घटना पर हँसने लगा। इतने में क्या देखता हूँ कि दीवार और खिड़की आपस में कुछ बाँते कर रही हैं।

खिड़की कह रही थी कि 'हे दीवार दीदी, तुम कुछ हो तो अवश्य, पर आदमी के जीवन में तुम्हारा महत्त्व कुछ नहीं।'

दीवार ने बिगड़कर कहा, 'अरी कलमुँही हें-हें, कलमुँही कहकर तो मैं तेरा आदर बढ़ा रही हूँ। मुँह तो तेरे है ही नहीं। हे अमुँही, तू यह बकती क्या है ? मुझे बनाने के लिए तो आदमी ने बड़े-बड़े कष्ट उठाये हैं।'

खिड़की बीच में ही बात काटकर बोली—'तभी तो तुम उसे कष्ट दे रही हो।'

दीवार बोली—'मैं और कष्ट दे रही हूँ ? मैं उसे लू से बचाती हूँ, बौछारों से अलग रखती हूँ, ठंढी हवा को उसे सताने नहीं देती, क्या यह सब कष्ट देना है ?'

खिड़की मुसकराती हुई बोली—'यह तो ऐसी ही बात हुई जैसे कोई घोड़े को दाना दे, उससे खूब काम ले, उसको दुबला बना दे और यह अहसान जताये कि उसको सुख पहुँचा रहा है।'

दीवार—'इस बेतुकी बात का क्या मतलब ?'

खिड़की—'मेरी रानी, मतलब यह कि तुमने आदमी को अपने बने मकान में बंद रख-रखकर निर्बल बना दिया। नहीं तो वह हाथी शेर सभी से मजबूत था। अब अगर तुम न रहो तो कुछ दिनों उसे दु:ख तो उठाना पड़ेगा, पर जल्दी ही मजबूत हो जायेगा।'

खिड़की की यह बात सुनकर मेरी खिड़की की दरारें, टीन के सब सुराख, यहाँ तक कि मेरी मोरी—सब एक स्वर में बोल उठीं 'क्या खूब कहा, क्या खूब कहा!'

दीवार अब एकदम बिगड़ बैठी। खिड़की के किवाड़ों ने उसका साथ दिया। परिणाम यह हुआ कि दीवार इस तरह बदन फुलाने लगी जिस तरह बिल्ली अपना बदन फुला लेती है। वह खिड़की को दबोचने लगी। खिड़की के तख्तों में दरारों को दबोचा, मोरी बंद हो गई। छत की टीन ने दीवार का साथ दिया। सारे सुराख बंद होने लगे। शोर मच गया। वह न कुछ खिड़की, ये न कुछ दरारें, यह न कुछ मोरी, ये न कुछ सुराख, इतनी हिम्मत करते हैं कि हम सबकुछ को कुछ नहीं समझते और अपने न कुछ को सबकुछ मान बैठे हैं।

इस शोर-शराबे में मेरा दम घुटने लगा। मैंने लात मारकर खिड़की का दरवाजा तोड़ा, बाहर कूदा और तब से ये मानने लगा कि यह 'न कुछ' ही है, जो हम सबको जीवित रखता है। जो कुछ है, वह उसका सहायक है। साथ ही साथ मुँह से निकल गया 'चींटी तुमने अच्छा पाठ दिया।'



१५. बाँसुरी, खंजरी और ढोलक

वाद्यशाला से मुझे गहरा लगाव है। वहाँ के यन्त्रों से भी मोहब्बत है। बजाने में तो इतना आनन्द नहीं आता, पर बजाते हुए सुनने में आनन्द आता है।

एक दिन इसी तरह वाद्यशाला में बैठा था। बजानेवाला कोई आया न था। शाला का चपरासी सब यन्त्रों को झाड़-पोंछ रहा था। यह देख मैं मन ही मन बाजों के भाग्य को सराहने लगा। सोचा ये भी बड़े भाग्यशाली हैं जिन्हें इतने प्यार से झाड़ा-पोंछा जाता है। स्वच्छ स्थान में रखा जाता है। इतना ही नहीं, इन्हें रखने के गिलाफ भी हैं, मानों इन प्राणहीनों को भी ठंढी-गरमी सताती हो।



मन का सोचना जीभ पर आया, ओठों पर आया और फिर फूट पड़ा। यानि मैं चपरासी से कह ही बैठा कि तुम तो इन बाजों को खूब प्यार करते हो। इनकी सेवा-शुश्रुषा करते हो। इनको झाड़-पोंछकर रखते हो। तुम्हें तो ये बाजे जरूर आशीष देते होंगे।

चपरासी ने विनम्रभाव से कहा—'महाराज, इन्हीं की टहल-चाकरी का तो हम खाते हैं, इन्हीं की असीस के बल हम अपनी घरवाली और बाल-बच्चों का पेट पालते हैं। इन्हें प्यार करने में हमें बहुत आनन्द आता है।'

चपरासी अपना काम करके चल दिया। वाद्यशाला में फिर सन्नाटा छा गया। पीछे से कुछ फुसफुसाहट सुनाई पड़ी। उधर को जो कान किये तो सुनने को मिला :

खंजरी—ढोलक दीदी, सुना, सुना इस दुष्ट चपरासी को। कहता है हमें प्यार करता है। हमारी टहल-चाकरी का खाता है। हमारी असीस से कुनबा पालता है और जब इसके मेहमान आते हैं, तब यही कमबख्त तो मुझे उनके हाथ में देकर बुरी तरह पिटवाता है। पीटनेवाले पीटे ही जाते हैं। कसाई को भी दया आ जाती होगी, इन्हें तो दया आती ही नहीं। पीटते जाते हैं और झूमते जाते हैं, मानो नशा पिये हों। और तो और, इसी चपरासी के दूसरे मेहमान जिन्हें चाहिए तो यह कि मुझे पीटने से रोकें, उल्टे पीटनेवाले को वाहवाही देते हैं, तालियाँ बजा-बजाकर उसका उत्साह बढ़ाते हैं। वह और भी मस्त होकर मुझे पीटने लगते हैं। मेरे पेट को बेहया ही समझो कि पिटते-पिटते फटता भी नहीं है। यह कैसा अन्याय है कि मैं हाय-हाय करती हूँ और वे हँस रहे होते हैं। मैं झन-झन कर रही होती हूँ, ये झूमते रहते हैं। मैं धत् धत् धत् कर इन्हें धिक्कारती रहती हूँ और इसके बेहया मेहमान मेरी धिक्कार को वाह-वाह समझते हैं। जब शरमाना चाहिए, तब खिलखिलाहट की धूम मचा रहे होते हैं। चपरासी अपढ़ है, हमारी वेदना को न समझे, न सही (मेरी ओर इशारा करके) जरा इन महाशय को तो देखो। ये भी ऐसा ही समझे हुए हैं। तब ही तो दुष्ट चपरासी की प्रशंसा कर रहे थे। उसे आसमान पर चढ़ा रहे थे। अब तुम्हीं कहो दीदी, क्या यह जले पर नमक छिड़कना नहीं है ?

मेरा तो दम ऊपर का ऊपर और नीचे का नीचे। सारी देह को कान बनाकर मैं ढोलक के उत्तर की प्रतीक्षा करने लगा।

ढोलक—दीदी, खंजरी, तुम सच कहती हो। मैं तो तुमसे भी ज्यादा दु:खी हूँ। तुम एक हाथ से पिटती हो, मैं दोनों हाथ पिटता हूँ। तुम्हारे एक पेट और एक मुँह है, मेरे तो दो पेट हैं। यह सृष्टिदेवी का अन्याय है या नहीं ? यही कमबख्त चपरासी जो हमारा चाकर बन रहा है, अपने को हमारा प्यार करनेवाला कह रहा है, अपने मेहमान के हाथ थमा देता है और मेहमान हैं कि पहले तो मेरे पेट पर तानते हैं। मैं समझता हूँ कि शायद ये महाशय

मेरी नाड़ी देख रहे हैं, पर मेरी यह समझ भ्रम में बदल जाती है, जब वह तानने के बाद मेरे पेट पर, हल्की ही सही, चपत जमाते हैं। तब मैं यह समझ बैठता हूँ कि ये मेरे साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। पर खंजरी रानी, मेरा यह भ्रम उस समय दूर होने लगता है, जब वे महाशय अपनी टाँग तले मुझे दबाकर बैठ जाते हैं। और उस समय तो सब भ्रम काफूर हो जाता है, जब मेरे दोनों पेट पर दोनों हाथ की जोर की थाप पड़ती है। मैं चिल्ला उठता हूँ। ये धूर्त महाशय उसको खिलखिलाहट समझते हैं। सारे दूसरे मेहमान इस अन्याय के काम में रस लेते हैं। मेरी ही चिल्लाहट में मेरी व्यथा डूब जाती है और जब इस कसाई को वादक नाम दिया जाता है तो मेरा जी जल उठता है। इस बधिक को वादक की पदवी! बधिक भी अपनी छुरी चलाकर एक बार में ही पशु को खतम कर देता है। यह तो पीटे जाता है, पीटे जाता है; न तो मार ही डालता है न मरने देता है। यह मनुष्य नामी श्रेष्ठ प्राणी का हाल नहीं है, तो है क्या ? दूसरों के दुःख में इसे क्यों इतना आनन्द आता है ?

खंजरी (बीच में बोल पड़ी)—दादा, यह मनुष्य प्राणियों को मारकर उनका माँस खाने में आनन्द माननेवाला, जो कर बैठे सो थोड़ा। जरूरत पर माँस खाय तो भी सहन किया जा सकता है। यह तो अन्न-फल रहते जरूरत बेजरूरत माँस खाता रहता है। और तो और, चटखारे ले-लेकर खाता है। इसकी धृष्टता का कुछ ठिकाना है ? भला ऐसा दुष्ट प्राणी आदमी हमें प्यार करने की सोच सकता है ? बकरे को मारने के लिए बढ़िया-बढ़िया खाना देकर मोटा करना क्या प्यार करना समझा जा सकता है ? इस बात के समझने में अपढ़ चपरासी भूल कर सकता है, पर ज्ञानी-ध्यानी जो यहाँ चुपचाप आसन जमाये बैठे हैं, वे भी इस मामले में इतने ही मूर्ख हैं, जितना इस शाला का चपरासी। हाँ, तो ढोलक भाई, तुम अपने दुखड़े को आगे बढ़ाओ।

मैं यह सब सुनकर पसीने-पसीने हो गया। मेरे मन ने पक्की तरह मान लिया कि हम मनुष्य प्राणी, मनुष्येतरों पर ही नहीं, मनुष्यों पर भी अन्याय ढाते रहते हैं। क्योंकि पशु-पक्षियों और निर्जीवों पर किया हुआ अन्याय हमें अन्याय करने का अभ्यस्त बना देता है। यह सब मैं क्षणभर में सोच गया और ढोलक की व्यथा-कथा सुनने के लिए तैयार हो गया।

ढोलक—खंजरी रानी, मेरी व्यथा-कथा लम्बी है, रोज की है। कोई ईश्वर से धन चाहता होगा, कोई पुत्र चाहता होगा, कोई प्रसिद्धि चाहता होगा, कोई कुछ और कोई कुछ। पर मैं उस भले देवता से मौत चाहता हूँ, मौत। उसे कसाइयों का कसाई कहूँ तो क्या बेजा कहता हूँ ? कहते हैं, वह दयालु है, करता क्यों नहीं मुझ पर दया ? कहते हैं वह दाता है, देता क्यों नहीं मुझे मौत ? दो कौड़ी की मौत जो न दे सके, उसे दाता कहने को कैसे जी हो ? खंजरी रानी, जब मैं किसी पंजाबिन के पल्ले पड़ जाता हूँ और पंजाबिनें मुझे घेरकर बैठ जाती हैं, तब मेरे दोनों पेट ही नहीं पिटते, मेरी देह पर खटाखट चोटें पड़ती हैं और इस सब कुकृत्य का नाम है ताल-सुर। पंजाबी टप्पे न जाने क्या बला हैं ? पर जो पंजाबी नहीं हैं, वे भी मस्ती से झूम उठते हैं। धन्य है यह इन्सान जो औरों का जी जलाकर आनन्द मानता है। कबाब में यही तो होता है। आदमी ही का कहना है—

'गैर को सोख्त, आप को लज्जत,
ये तमाशा कबाब में देखा।'

तमाशा-तमाशा, इन विचारों का कुछ ठिकाना है! खंजरीरानी, भला इसी में है कि जहाँ तक बने हम दुःख सहते जायें और मौत की आशा बनाये रखें। यहाँ हम अपना दुखड़ा रोकर यही तो करेंगे कि निर्जन जंगल में रोयेंगे। न कोई देखनेवाला होगा, न कोई आँसू पोंछनेवाला और अगर मनुष्य की भीड़ जिसे वह जलसा नाम देता है, उस समय रोयेंगे तो वह होगी नक्कारखाने में तूती की आवाज। अतः मुँह सीकर रहने में ही हमारी भलाई है।

यह सब सुनकर मेरी क्या हालत हुई होगी, उसका आप अन्दाजा लगा सकते हैं। उसके बाद मैं कई बार वाद्यशाला में अकेले गया, पर कभी खंजरी और ढोलक को बात करते न पाया। हाँ, एक दिन छोटी-बड़ी दो बाँसूरी बातें करती मिली।

छोटी बाँसुरी—बड़ी दीदी, यह तो बताओ हमें-तुम्हें आदमी क्यों पुचकारता है ? हमें क्यों मुलायम हाथों से उठाता है ? हमें अपने अधरों पर रखकर क्यों अपनी शान समझता है ? अवतारी पुरुष कृष्ण ने हमें अपनी सहेली क्यों बनाया ? हममें तो एक छोड़ नौ-नौ छिद्र हैं। पोल ही

पोल भरी हुई है। कोई गुण है ही नहीं। फिर भी हमें इतना प्यार क्यों मिलता है ? हम तो मनुष्य के चुम्बन से ऊब उठी हैं। हम तो अपने ये चुम्बन दूसरों को दान देने को तैयार हैं। पर आदमी है कि हमें प्यार किये जाता है, खंजरी और ढोलक को पीटे जाता है। खंजरी के केवल दो छिद्र हैं, तीसरा ऐब पोल मान लीजिये। ढोलक भी दो छिद्र और एक पोल वाला है। ये तीन तीन ऐब वाली पिटें और हम नौ-दस ऐब वालियों पर प्यार बरसे। दीदी, इसका कुछ कारण तो बताओ।

बड़ी बाँसुरी—मेरी प्यारी छोटी बहन, कारण सीधा सादा है। हममें ऐब हैं। पर हम उन्हें छिपाते नहीं। खंजरी अपने एक ऐब को छिपाती है, इसलिए एक हाथ से पिटती है। ढोलक अपने तीनों ऐब छिपाता है इसलिए दो हाथों से पिटता है और तीसरे हाथ के भी ठोसे खाता है। यही कारण है जो भीतर-बाहर एक है, उसे प्यार मिलेगा। जो अन्दर कुछ है, और बाहर कुछ है, उसको मार मिलेगी। ●

१६. गुलाब और चमेली

मेरे मकान से लगकर एक छोटा-सा बागीचा था। उसमें फल के पेड़ थे, फुलवारी में फूल के पौधे थे। मेरी खिड़की के पास ही एक गुलाब का पौधा लगा था और उसी के सामने चमेली की बेल मेरी खिड़की के सायबान पर होती हुई छत तक चली गई थी।

दोनों ही में रोज नये-नये फूल खिलते थे। मैं गंध लेना पसंद करता हूँ, फूल तोड़ना मुझे नहीं सुहाता। इसी कारण मुझे इस बात का तनिक भी ज्ञान न था कि फूल किस तरह उगते हैं। पौधा या बेल उन्हें किस तरह सम्भालता या सम्भालती हैं और फिर कब और क्यों अपने पौधों या बेलों को छोड़ देता है।



एक दिन अपनी खिड़की से मैं बागीचे की शोभा निहार रहा था। इतने में मालूम हुआ कि चमेली की बेल और गुलाब के पौधे में कुछ बातचीत चल रही है। मैंने अपने कान उधर ही को कर दिये।

गुलाब—दीदी चमेली, तुमसे अपने फूल सम्भाले नहीं सम्भलते तो तुम उन्हें उगाती ही क्यों हो ?

चमेली—ऐसी बात तो नहीं है। अगर सम्भाल न सकती तो वे लगते ही कैसे ? फूल कली के रूप में जितने भारी होते हैं, फूल बनकर उतने भारी नहीं रह जाते। क्योंकि उनकी पंखुड़ियों को नीचे की हवा सम्भाले रखती है।

गुलाब—बातें न बनाओ। विज्ञान की जानकारी की शेखी न मारो। कमजोरी छिपाने से कोई लाभ नहीं। साफ-साफ क्यों नहीं कहती कि तुम मुलायम पतली कमरवाली हो, इसलिए तुमसे अपने फूल नहीं सम्भलते। जल्दी-जल्दी गोद से गिरा देती हो। ठीक यही होगा कि तुम मेरी तरह बलवान बनो। तुम देखती हो मैं अपने फूल को कभी नहीं गिरने देता। वह अपनी उमर पूरी करके सूख-सूख कर भले ही गिर जाय। इतना ही नहीं, मैंने उसकी रक्षा के लिए काँटे भी उगा रखे हैं, ताकि बेमतलब डाकू डालियों पर चढ़कर रस की चोरी न करें और दिन दहाड़े डाका न डाल दें।

चमेली—भाई गुलाब, तुम बात तो ठीक कहते हो, पर न जाने क्यों तुम्हारी बात मेरे गले नहीं उतर रही। मुझे ऐसा लग रहा है कि मुझे अपने फूलों से कम मोह है और तुम्हें अपने फूलों से ज्यादा।

गुलाब—चमेली दीदी, इसी बात को यों भी तो कहा जा सकता है कि तुम्हें अपने फूलों से कम प्यार है। तुमने उनके लिए परिश्रम कम किया है। मुझे अपने फूलों से ज्यादा प्यार है। क्योंकि मैंने उनके लिए बहुत परिश्रम किया है और बड़े लाड़-प्यार से पाला-पोसा है।

चमेली यह कहकर चुप हो गयी कि हो सकता है तुम्हारी बात सही हो और विवाद का यहीं अन्त हो गया। चमेली और गुलाब दोनों ऊँघने लगे। मैं अपने काम में लग गया।

इस घटना के घण्टे भर बाद मैं कट की आवाज से चौंका। जैसे ही मैंने निगाह ऊपर की तो देखता हूँ कि एक आदमी गुलाब के फूलों को छह-छह इंच डाली समेत कैंची से काट रहा है। उसकी झोली चमेली के फूलों से भरी हुई है। वे फूल उसने धरती से चुने थे। दो चार बेल से भी तोड़े थे। पर ऊपर के फूल उसकी पहुँच से परे थे और उसकी जरूरत के बाहर थे। वह तो लेकर चलता बना। पर गुलाब का पौधा फूलों से एकदम नंगा हो गया। चमेली पर कुछ फूल फिर भी बच रहे थे। गुलाब का पौधा अपने जख्मों से कराह रहा था।

चमेली—भाई गुलाब, कैसी तबियत है ? आज तुमने अपने सब फूलों को क्या कहीं भेज दिया है ? क्या उन्हीं के वियोग में दुःखी हो ?

गुलाब ने खिसियाना सा चेहरा बनाकर उत्तर दिया—चमेली दीदी, तुम्हारी बात ठीक थी। मैं मोही सिद्ध हुआ। उसका दण्ड मुझे मिला और उसीका फल भोग रहा हूँ। ●

१७. पत्थर और मूरत

किसी कारणवश एक बार किसी मन्दिर में अकेले सोने का काम आ पड़ा। यों तो मंदिर ईश्वर के घर माने जाते हैं और उनमें किसी को भी उठने-बैठने और सोने की इजाजत होनी चाहिए, पर रिवाज इससे एकदम उलटा है। मन्दिर रातभर सुनसान ही रहने चाहिए। मानो पत्थर का ईश्वर आदमी की श्वास से भी अच्छी नींद नहीं ले सकता। कुछ भी हो, रात को मन्दिर सूनसान ही रहते हैं। फिर मुझे उसमें सोने की इजाजत कैसे मिल गई ? यह समझना उन लोगों के लिए आसान नहीं जिन्होंने स्वराज्य से पहले के और ठीक-स्वराज्य के बाद के हिन्दू-मुस्लिम दंगे देखे हैं। उन



दिनों मुसलमानों की मस्जिद गिराना धर्म समझा जाता था और हिन्दुओं की मूरत तोड़ना और मन्दिर ढहाना इसलाम की सेवा मानी जाती थी। तभी तो मुझे मन्दिर में सोने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

मन्दिर की श्मशान से तुलना नहीं की जा सकती। पर मुझे तो उस सुनसान मन्दिर में वैसा ही डर मालूम हुआ जैसा श्मशान में होता है। क्योंकि मैंने बचपन में सुन रखा था कि रात को देवता भगवान की पूजा करने आते हैं। सुन तो यह भी रखा था कि वे दिन में भी आते हैं और इसी कारण मन्दिर के बाहरी दरवाजे पर एक घंटा लटका रहता है जिसे बजाकर

ही उस वेदी के पास पहुँचना चाहिए जिस पर भगवान की मूरत विराजमान रहती है और यह सब इसलिए कि अगर देवता पूजा कर रहे हों तो उन्हें तुम्हारे आने का पता लग जाय और तुम्हारे आने से पहले वे वहाँ से नौ दो ग्यारह हो जायँ।

मन्दिर का दरवाजा बंद करते ही ये सब विचार दिमाग में घूम गये और ऐसे-ऐसे डरावने चित्र बनाने लगे कि नींद अपना पूरा जोर लगाकर भी मुझे मेरी धरती से छाती भी न छुआ पाई, कमर तो क्या छुआती।

अब मेरा यह हाल था कि आँखें बंद करता तो देवता आ मौजूद होते और आँखें खोलता तो अँधेरा स्वयं दैत्य का रूप ले बैठता। मतलब यह कि भगवान की शरण में रहकर भी भगवान रत्तीभर काम न आये, बल्कि आफत में डालने वाले सिद्ध हुए।

कहीं दूर से बारह बजने की आवाज आई। घण्टों की ध्वनि बिलकुल ऐसी लगी मानों कोई सशस्त्र सिपाही रक्षा के लिए आ गया, पर यह दृश्य तो क्षण भर ही रहा। क्योंकि बारह बजने से जल्दी बारह का गजर बजकर खतम हो गया और थोड़ी देर के बाद उसकी गूँज भी खत्म हो गई। मैं फिर अरक्षित रह गया।

इसी प्रेम-शान्ति की वेदी की तरफ से एक आवाज सुनाई दी। पहले तो मैं डरा, पर आवाज में विनम्रता, मृदुता, मिठास होने के कारण भय तुरन्त ही दूर हो गया। आवाज थी वेदी के ही एक पत्थर की।

पत्थर—भगवन्, आप हैं तो मेरी ही बिरादरी के। बिरादरी के क्या, बिलकुल मेरे अंग, एक तरह मैं ही। इसलिए मुझे आपसे ईर्ष्या नहीं होती। डाह तो हो ही कैसे सकती है ? जब आपकी पूजा होती है तो मुझे ऐसा ही आनन्द आता है, जैसे उस माँ को आनन्द आना चाहिए जिसके बेटे की पूजा हो रही हो। इतना ही क्यों, जैसे उस सिर को आनन्द आना चाहिए, जिसके पाँव पुज रहे हो या उन पाँवों को आनन्द आना चाहिए जिसका सिर पुज रहा हो। पर दुःख इतना ही है कि 'सिर पुजना' बुरा मुहावरा है। सिर की पूजा यानी सिर ठुकना। छाती भी ठोकी पीटी जाती है। हाथ मिलाये जाते हैं, पुजते तो पाँव और गोड़े हैं। सिर जैसा सर्वोच्च, सुयोग्य सम्माननीय अंग पैरों पर रखकर ही पूजा नाम पाता है। तो आपकी पूजा

से मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है, पर आप हैं कि इस पूजा से कोई लाभ नहीं उठाते। मेरी ही तरह अचल स्थिर बैठे रहते हैं। फिर आपके हाथ, पाँव, धड़, सिर होने का उपयोग। यदि आपके स्थान पर मैं होता, तो मैं इस पूजा से बेहद लाभ उठाता।

मूरत—मेरे आदरणीय और श्रद्धेय भाई, मैं तुम्हारे प्रश्न का क्या उत्तर दूँ ? तुम्हें यही पता नहीं कि मैं तुम पर सवार हूँ। पर तुमसे नीचे हूँ। यदि हल्के का अर्थ नीच है तो हल्का ही भारी के ऊपर रहता आया है। ऊपर होना और हल्का होना एक ही बात है। मैं जब तुम्हीं जैसा था, तब जंगल में स्वतन्त्र था, स्वतन्त्र पवन का आनन्द लेता था। मेरा कोना-कोना, मेरा बिन्दु-बिन्दु, मेरा मुँह था। मूर्तिकार गया और अपनी छैनी से काटकर तुम्हें अलग किया और मुझे अलग किया। क्या इस अन्याय को मैं भूल सकता हूँ ? और क्या तुम भी इस अन्याय को भूल गये हो ? उसने मुझे अपनी छैनी से काट-छाँटकर अपनी जाति का बनाने की कोशिश की। पर बाहर-बाहर ही वह इस काम में सफल हुआ। मैं अन्दर से वही हूँ जो तुम हो। बाहर से तुम ज्यादा अच्छे हो। क्योंकि तुम पत्थर की बिरादरी से बहुत कुछ मिलते-जुलते हो। मैं बिलकुल ही नहीं मिलता-जुलता। तुम्हारे आज भी अनेक मुँह हैं, मेरा तो अब केवल एक मुँह है। इस आदमी ने मेरा मुँह तो बनाया, ओंठ भी बनाये, पर बनाकर सी दिये या चिपका दिये। पता नहीं यह आदमी की दुष्टता है या अशक्यता, या अज्ञता। अज्ञता तो कैसे कहूँ क्योंकि इसके अपने ओंठ सिले हुए नहीं हैं, चिपके हुए भी नहीं हैं। हाँ तो इसने मेरे सारे मुँह मिटाकर एक मुँह बनाया और वह भी हर तरह अधूरा। इसलिए मैं चुप रहने में ही भला मानता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं न अपनी जाति का रहा, न मनुष्य की जाति का बन पाया। न घर का रहा, न घाट का। अब मैं क्या बोलूँ। आज तुमसे बात कर रहा हूँ, सो न मैं बोल रहा हूँ न मेरा मुँह। यह तो अपने भाई की देखा-देखी मुझमें उपलत्व या पाषाणत्व जाग गया है। वही बोल रहा है। बोलने के लायक तो मनुष्य ने मुझे रखा ही नहीं। मनुष्य मेरी पूजा नहीं करता। वह या तो अपनी कला की पूजा करता है या अगर वह कुशल कलाकार नहीं है, तो अपनी जाति की पूजा करता है। मैं कोई कारण नहीं देखता कि थोथी पूजा का अभिमान मानूँ।

पत्थर—आपकी बातों से मेरा दिल तो बदला है, मेरी आँखें भी कुछ-कुछ खुली हैं, पर थोथी पूजा की बात मेरी समझ में नहीं आ रही। भगवन्! इसे स्पष्ट समझाइये। क्या मनुष्य की सारी पूजा थोथी होती है ?

मूरत—मनुष्य पूजा ही नहीं करता। पूजा का मतलब है आदर करना। आदर करना अर्थात् आज्ञा मानना। नमस्कार, दण्डवत, सलाम, कहना मानना; कहे अनुसार काम करना। क्या पुजारी ने कभी ऐसा किया ? आदमी पुराने राजाओं को नमस्कार करता था भक्ति से नहीं, डण्डे के डर से। राजाओं की शक्ति सीमित हुई। राजाओं की पूजा जारी रही। अब पूजा का कारण डर कम था, अपनी दी हुई सलाह ज्यादा थी। चाणक्य, चन्द्रगुप्त को नहीं पूजता था, अपने तैयार किये हुए हाड़-माँस के चन्द्रगुप्त को पूजता था। आज राजे नहीं रहे, उनकी जगह राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री हैं। ये डण्डे के बल से तो नहीं पुजते, पर हाड़-माँस की मूरत बने जरूर पुजते हैं। मेरी अँगुली टूट जाय तो मैं खण्डित समझा जाता हूँ। भगवान से यह पत्थर बन जाता हूँ, गद्दी से उतार दिया जाता हूँ, खण्डहर में गलने, टूटने, ठोकरें खाने के लिए छोड़ दिया जाता हूँ। मुझ जैसे किसी एक को अजायबघर में जगह मिल जाती है। पूजा का पात्र किसी तरह नहीं रह जाता। ठीक इसी तरह क्या राष्ट्रपति और क्या प्रधानमंत्री अवधि की अँगुली टूटने पर या चाहें तो यों कह लो अवधि की नाक कटने पर, कोई पूजा का पात्र रह जाता है ? आदमी की बिरादरी में भी उसकी उतनी ही कदर रह जाती है जितना अंदर से होता है। इसलिए मनुष्य की सारी पूजा थोथी पूजा है। अब तुम्हीं कहो, मैं इस थोथी पूजा का क्या अभिमान मानूँ, क्या उपयोग करूँ ? भैंस खूँटे पर कूदती है, हवाई खूँटे पर नहीं।

पत्थर—भगवन्, आपकी बात तो ठीक मालूम होती है, पर मेरी पूरी-पूरी तसल्ली नहीं हुई। आपकी खातिर यह जान क्यों दे देता है ? एक दो नहीं सैकड़ों, हजारों, लाखों आदमी आप जैसे एक की खातिर जान पर खेल जाते हैं। तो क्या यह सब भी थोथी क्रिया है ?

मूरत—एकदम थोथी। मस्जिद में मूरत नहीं होती। उसकी खातिर भी लोग प्राण देते हैं। झण्डा तो कपड़े का एक टुकड़ा है, उसके लिए कितने मर मिटते हैं। आदमी किसी के लिए जान नहीं देता। अपनी शान के लिए

जान देता है। वह जब भी शिकार होता है, तब अपने क्रोध-लोभ-मान-माया का शिकार होता है।

पत्थर—तो क्या सत्य के लिए जान नहीं देता ?

मूरत—सत्य के लिए नहीं, सत्याभिमान के लिए। चाहो तो यह भी कह सकते हो मिथ्याभिमान के लिए। क्योंकि सत्य अभी आदमी के हाथ नहीं लग पाया। निकट भविष्य में सत्य आदमी के हाथ लग जायेगा, ऐसी कोई आशा भी नहीं। इसलिए यह कहना ज्यादा ठीक रहेगा कि मनुष्य अभिमान की खातिर मरता है।

पत्थर—तो क्या देशभक्त अभिमान की खातिर मरे ?

मूरत—हाँ, देशाभिमान की खातिर। अभिमान के साथ देश शब्द जोड़कर या अभिमान के साथ धर्म शब्द जोड़कर मनुष्य अभिमान को परिष्कृत करता है, या अभिमान को घृणित बनाता है, इसका ठीक-ठीक उत्तर आदमी के अन्तस्तल में मौजूद है। पर जो उत्तर वह ऊपरी मन से देता है, वह कुश्ती में चित्त हुए आदमी के इस वाक्य से मिलता-जुलता होता है कि नाक तो मेरी ही ऊपर रही।

पत्थर—भगवन्, तो मनुष्य द्वारा की हुई पूजा में आप कोई भी रस नहीं लेते ?

मूरत—हाँ, कोई रस नहीं लेता। अगर लेने लग जाऊँ तो मनुष्य मेरी पूजा करना छोड़ देगा।

पत्थर—मैं बिलकुल नहीं समझा।

मूरत—क्या तुम नहीं देखते कि जनता से पूजे जानेवाले राजा या राजा के स्थान को शोभित करनेवाले दूसरे कोई गद्दी से उतार दिये जाते हैं तब जनता के नाम पर उँगलियों पर गिने जाने वाले किसी की मरजी के अनुसार काम नहीं करते।

पत्थर—तो क्या मैं यह समझू कि आदमी अपनी मन की मौज के सिवाय न किसी को पूजता है, न किसी की सुनता है, न किसी की मानता है, फिर चाहे वह पढ़ा-लिखा हो, अपढ़ हो, ज्ञानी हो, अज्ञानी हो, किसी उम्र का हो, किसी देश का हो, किसी स्थिति में हो।

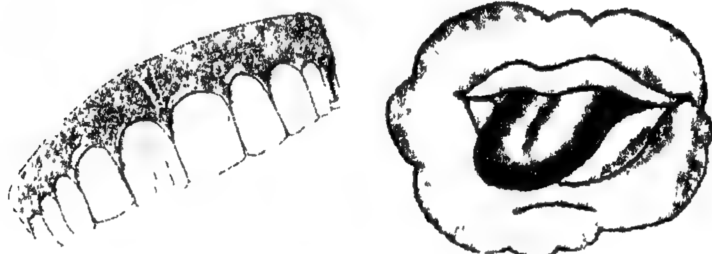
मूरत—तुम ठीक समझे।



१८. जीभ और दाँत

सबेरे-सबेरे बिस्तर छोड़ते ही मुँह के भीतर से मानो लड़ने की आवाज आयी। मामला कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैं बैठ गया और ध्यानस्थ होकर बातें सुनने लगा। दाँत और जीभ में अपने-अपने महत्त्व को लेकर बहस जैसी हो रही थी।

दाँत—अरी जीभ दीदी, हम शुरू से साथ-साथ रहते आये हैं, पर आदमी है कि तुम्हारी ही बात करता है और तुम्हें रसना भी कहता है। जब कि मेरा महत्त्व भी तो कम नहीं है!



जीभ—सुनो दाँत भाई, सही बात यह है कि तुम केवल सामने चमकते हो। टेढ़े-मेढ़े, छोटे-बड़े भी होते हो, गंदे भी रहते हो। चेहरा भी बेडौल हो जाता है!

दाँत—पर हमारा काम तो महत्त्वपूर्ण है। खाने की कोई भी चीज चबानी तो हमें ही पड़ती है। क्या यह बड़ी बात नहीं ?

जीभ—तुम चबाने का, तोड़ने का, काटने का काम ही तो करते हो! गुस्से में आदमी आदमी को काट लेता है। घाव हो जाता है।

दाँत—पर इसमें हमारा क्या दोष है ? चबाये बिना स्वाद कैसे आयेगा ? फिर हम तो बत्तीस हैं, तुम अकेली हो।

जीभ—यह क्या कहा ? बहुसंख्य होने से ही क्या होता है ? महत्त्व संख्या का नहीं होता। मैं अकेली हूँ पर मनुष्य तथा अन्य जीवों को स्वाद का आनन्द देती हूँ। मेरे पूरे अंग में स्वाद के हजारों केन्द्र हैं। और जानते हो मेरा नाम रसना भी तो है। मैं रसमय हूँ, रस देती हूँ, रसीली-मीठी बातें करती हूँ। मैं स्वास्थ्य की पहरेदारी करती हूँ! खराब, विकृत या बेस्वाद चीज भीतर जाने ही नहीं देती! तुम तो कड़े, कठोर हो!

दाँत—हम कड़े जरूर हैं, पर अपनी जगह जमे हैं। इधर-उधर तुम्हारी तरह लपलपाते नहीं हैं। न किसी को चिढ़ाने के लिए लम्बी जीभ बाहर निकालते हैं। पता नहीं, कब फिसल पड़ोगी और ऐसे बोल बोलती हो कि तीर की तरह चुभ जाते हैं और जीवनभर का बैर हो जाता है। तुम मुझे हिंसक कहती हो, पर तुम्हारे शब्द हिंसा का काम नहीं करते ?

जीभ—बस, चुप करो! मेरे सामने तुम्हारी हैसियत ही क्या है ? 'दाँत निपोरना' क्या अच्छा मुहावरा है ? अरे मैं तो जन्म से लेकर आखिरी क्षण तक प्राणी का साथ निभाती हूँ। स्वस्थ रखती हूँ। मीठी वाणी से मुग्ध करती हूँ। भगवान का नाम मेरे कारण ही बोला जाता है। तुम्हारा क्या, चाहे जब खराब हो जाते हो, निकाल फेंकना होता है। बहुत बाद आते हो और मरण के बहुत पहले ही कई बार में टूट-टाट कर मुँह को पोपला बना देते हो।

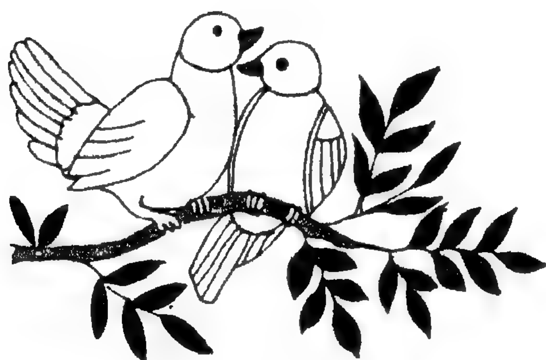
जानते हो, मैं वाणी का और खाने का, दोनों काम करती हूँ। मेरी वाणी में भी रस है, भोजन में भी। मैं अहिंसा की देवी हूँ, समझे। तुम तो दंश करते हो। एक बात ध्यान में रखो। **नरम, मुलायम होने से मैं जीवनभर साथ निभाती हूँ। कड़ापन जल्दी टूट जाता है।**

दाँत—मैं हारा, तुम जीती। तुम्हारी बातों से समझ में आया कि हम सब एक-दूसरे के पूरक और सहायक हैं! सभी अंगों और अवयवों का अपना महत्त्व है।



१९. अपनी-अपनी सूझ

एक पक्षी अपने साथी पक्षी से कह रहा था—ये झाड़ियाँ अपने को समझती क्या हैं ? कहीं ये हमारी चालाकी को पहुँच सकती हैं ? जब हम बेर या फल खाने के लिए इनकी डाली पर बैठते हैं, तो झुक जाती हैं। विनम्रता दिखाकर हमें बनाती हैं। इधर तो इतनी विनम्रता, उधर जब हम इनके बेर गटक कर भागते हैं, तो ये उछल कर हमें पकड़ने की कोशिश करती हैं, पर हम पंखवाले कहीं इनकी पकड़ में आ सकते हैं ? और क्या ये ऐसा करके अपनी विनम्रता की पोल नहीं खोल देतीं ? ये रोज ऐसा करती है और कभी भी हमको नहीं पकड़ पातीं। फिर भी ये अपनी चालाकी से बाज नहीं आतीं।



दूसरा पक्षी—तुम बिलकुल ठीक कहते हो। इन झाड़ियों ने टेढ़ी-मेढ़ी डालियाँ उगाकर बीच-बीच में पत्ते लगाकर आदमी के बनाये हुए जाल की भद्दी नकल की है। कहीं हम इस तरह के जाल की पकड़ में आ सकते हैं ?

पहला पक्षी—बेशक यह इन झाड़ियों की मूर्खता है। आदमी जिस तरह जाल बिछाता है और उसके नीचे चावल डालता है और हमें फँसा लेता है, उसी की नकल करने बैठी हैं ये झाड़ियाँ। चावल तो इन्हें मिल

कहाँ सकते हैं ? हाँ, चावल जैसी कुछ चलती-फिरती चीजें झाड़ियों के नीचे जरूर रहती हैं, जिन्हें हम अपने बच्चों के लिए चुन लाते हैं। झाड़ियों के जाल में कभी नहीं फँस पाते। हमारे बच्चे उन नई तरह के चावलों को बड़े शौक से खाते हैं। इन्हें उनके खाने में सुभीता भी रहता है।

दूसरा पक्षी—ये बड़ी कितनी क्यों न हों, पर इनकी बुद्धि छोटी और मन्द है। हम छोटे ही क्यों न रहें, हमारी बुद्धि बड़ी और तीव्र है। दिये की लौ छोटी ही होती है पर उसका प्रकाश कितना बड़ा होता है। सूरज और चाँद छोटे ही हैं। पर उनसे तो जगत चमक उठता है। झाड़ियाँ लाख कोशिश करें, हमारी समता नहीं कर सकतीं।

जैसे ये दो पक्षी बात कर रहे थे वैसे ही दो झाड़ियाँ बात कर रही थीं।

पहली झाड़ी—देखा दीदी झाड़ी, इन पक्षियों को हम कैसा उल्लू बनाती हैं। जब हम छोटी होती हैं तब इन्हें कीड़ों का लालच देती है। ये हमारे पास आते तो हैं, हमारे बचपन के लाल-लाल पत्तों को फल समझकर, पर जब फल नहीं पाते तो ये हमारे बैरी कीड़ों को खा जाते हैं। देखा, हम अपने बचपन में कितनी चालाकी से दूर उड़ते हुए इन मूर्खों को अपने पास बुला लेती हैं और इनसे वह काम लेती हैं, जिसे ये खुश होकर करते हैं। जब हम बड़ी हो जाती हैं तो हमें अपने पत्तों को अपने सुभीते के लिए हरा रंग देना होता है। और अब इन पक्षियों के लिए हमारे पास आने का कोई आकर्षण नहीं रह जाता। इसलिए हम रंगे-चंगे बेर उगाती हैं। ये बेर हमारी सन्तान हैं। हम ऐसी मूर्खता कभी नहीं कर सकतीं कि बेर इन मूर्ख पक्षियों को खिला दें। इसलिए जब वे बेर नन्हें छोटे और कच्ची उम्र के होते हैं तब तक हम उन्हें आकर्षक रंग नहीं देतीं, उन्हें स्वाद भी प्रदान नहीं करतीं। उन्हें बढ़िया गंध से भी दूर रखती हैं। जब ये हमारी सन्तान पूरी बड़ी हो जाती है और इस योग्य हो जाती है कि अपने पैरों पर आप खड़ी हो सकें, तब हम उसे रंग-रस-गंध सभी दे देती हैं। पक्षी और दूसरे पशु हम विदुषी झाड़ियों को मूर्ख समझते हैं। कहते हैं, इतने पत्तेवाली होते हुए भी न इन्हें अपने फूल छिपाना आता है, न फल छिपाना आता है। ये क्या समझें हमारी चाल को।

दूसरी छोटी झाड़ी—मेरी आदरणीय दीदी, क्या इसमें कोई चाल है ? मैं तो यही समझती थी कि ये लुटेरे पक्षी हमारी शोभा और हमारी सन्तान को लूट ले जाते हैं। बताओ, बताओ तो, इसमें क्या भेद है ?

पहली झाड़ी—इसमें भेद क्या है, बड़ी होकर तुम खुद जान जाओगी। किसे अपनी सन्तान प्यारी नहीं होती ? कौन नहीं चाहता कि वह अपनी सन्तान के लिए कोई पक्का प्रबंध कर जाय। अब तुम्हीं सोचो कि अगर ये सारे बेर यहीं हमारी गोद में गिर जायें और जड़ पकड़ लें तो ये न स्वयं ही पनप सकते हैं और न मुझे ही पनपने दे सकते हैं। इसलिए जरूरी है कि इन्हें कहीं दूर पहुँचाया जाय। हम इतनी बुद्धिमान हैं कि अगर चाहें तो अपने में पंख उगा सकती हैं और उड़कर अपनी इन सन्तानों को जगह-जगह बचने के लिए पहुँचा सकती हैं। पर हम इस कठिनाई में क्यों पड़ें ? इन मूर्ख पक्षियों से क्यों न अपने बच्चों के लिए सवारी का काम लें। बस लाल रंग के लालच में ये पक्षी हमारे पास आ धमकते हैं। हमारा विज्ञापन काम दे जाता है। पक्षी तो यह समझते हैं कि हम बेरों को खाते हैं। आखिर मूर्ख जो ठहरे। पर होता यह है कि ये पक्षी हमारे बच्चों के लिए हवाई जहाज का काम करते हैं। इसे लोग चोंच समझते हैं। वह हवाई जहाज का प्रवेशद्वार है। हमारे बेरों में जो रस और गूदा है, वह एक तरह हवाई जहाज का किराया है। गुठलियाँ ही हमारे बच्चे हैं। ये बड़े आराम से और बहुत खुश होकर हवाई जहाज पर जा बैठते हैं। वहाँ का गरम मौसम इन्हें बहुत पसंद आता है। बस वातानुकूल डब्बे में बैठे हुए ये सैर करते फिरते हैं और जब पक्षी के जी में आता है तो कहीं भी इन्हें दूसरे द्वार से उतार देता है और ये वहाँ अपनी जड़ जमा लेते हैं। बस्तियाँ बसा लेते हैं।

दूसरी झाड़ी—यह बात है ! तब तो सचमुच ये पक्षी हमारे हाथ में खेल जाते हैं।

ऐसी बातें सुनकर मेरे मुँह से अपने आप निकल गया अपनी-अपनी समझ ही तो है। मैं तो यहाँ तक सोच गया कि जिस सूअर को हम बहुत मूर्ख और घृणित पशु समझते हैं, कहीं हमको वह अपना खाना बनाने की मशीन तो नहीं समझता और इन्हीं झाड़ियों और पक्षियों की तरह तो नहीं सोचता ?



२०. घास और पौधा

एक मैदान में घास उगी हुई थी। उसी में कहीं-कहीं तरह-तरह के पौधे भी उगे थे। कोई घास से छोटे थे, कोई बड़े थे, कोई सुन्दर थे, कोई असुन्दर थे, कोई कटीले थे, कोई चिकने थे, कोई कैसे, कोई कैसे। घास और पौधों दोनों को ही धरती माता ने जना था। सूरज पिता ने पाला-पोसा था। हवा बहन ने झूला झुलाया था, लाड़ लड़ाया था, चाँदनी जीजी ने उनके साथ अठखेलियाँ खेली थीं। चन्दा मामा ने उन्हें अमृतदान दिया था। प्रकृति ने उनके लिए समान रूप से प्रबंध कर रखा था।



सबके रूप रंग अलग होते हुए भी सबमें समानता दिखाई देती थी। कोई किसी को छोटा बड़ा न समझता था। क्योंकि किसी को किसी बात की कमी न थी। अपने-अपने रंग रूप में सभी सन्तुष्ट और तृप्त थे। गुलाब के पौधे को न यह ज्ञान था, न उस ओर उसका ध्यान था कि जल्दी ही वह घास से बड़ा हो जायेगा। आम के पौधे को भी कहाँ मालूम था कि वह एक दिन बहुत बड़ा वृक्ष बनेगा और उसमें मीठे-मीठे फल लगेंगे और फिर आम के पौधे खुद तो अपने फल खाते नहीं। इसलिए उनके फलों की मिठास उनके लिए कुछ महत्त्व नहीं रखती। वह तो किसी दूसरे के ही काम की चीज है। अज्ञानता के कारण हो या सब तरह की सुख की प्राप्ति के कारण हो, सारे मैदान का वातावरण खूब शान्त था। घास-पौधे सभी झूम-झूम कर प्रकृति को धन्यवाद देते थे। हाँ, पक्षी अभी उनके पास कम आते थे। अगर कोई भूला भटका आ जाता था तो वह उनकी खातिर नहीं आता था। वह उन कीड़ों की खातिर आता था जो उनके बीच में घूम-फिर कर उन्हें काट कुतरते थे। इससे वह उसका स्वागत करते

थे, क्योंकि वह उन कीड़ों को हड़प कर जाता था जिन पर घास-पौधों का कुछ बस नहीं चलता था। हाँ, तो इस तरह ये खूब खुश थे।

एक दिन क्या हुआ कि एक अजब तरह का जानवर उनके पास से निकला। उसके पाँव तो चार ही थे, पर दो पाँव पेट के इधर-उधर और भी थे। पूँछ तो एक ही थी, पर सिर दो थे। एक सिर पूँछ की सीध में था, दूसरा पीठ के ऊपर था। सिर से ही लगे हुए दो पाँव और थे। ऐसा प्राणी उन्होंने पहली बार ही देखा था। वह जानवर वहीं रुक गया। उसने घास-पौधों पर हमला शुरू कर दिया। इतने में क्या हुआ कि उस एक प्राणी के दो प्राणी हो गये। पीठ वाला हिस्सा सिर और चारों पैर समेत अलग हो गया। और दो पाँव पर चलने लगा। घास-पौधे पहिले तो डरे, पर जब वह एक तरफ जम गया तो उनकी तसल्ली हुई। दूसरे हिस्से का हल्ला चलता रहा और उसने बहुत घास और बहुत से पौधों को थोड़ी देर में ही उदरस्थ कर लिया। अचानक फिर दो भाग जुड़ गये और चलते बने।

इस घटना ने मैदान के सब घास-पौधों को और भी गहरे प्रेम-सूत्र में बाँध दिया। पर इस दुर्घटना से एक आशंका सबके मन में हो गई।

कुछ दिनों के बाद वही प्राणी फिर आया। फिर उसी तरह का दृश्य देखने को मिला। हाँ, इतना अन्तर अवश्य हुआ कि उस प्राणी के एक भाग ने दूसरे भाग को बूढ़े आम के पेड़ से बाँध दिया। उसी बूढ़े पेड़ से घास-पौधों को पता चला कि वे दो अलग-अलग प्राणी हैं। दो पाँव पर चलने वाला आदमी है और चार पाँव पर चलने वाला घोड़ा है। अब हुआ यह कि उसने घास के साथ तो बहुत बुरा बर्ताव किया, उसे उसने उखाड़-उखाड़ कर फेंक दिया। पौधों को उसने बड़ी होशियारी से मिट्टी समेत उखाड़ा, दूसरी जगह जमाया। उनके चारों ओर बाड़ लगाई और फिर घोड़े पर सवार होकर चल दिया।

मैदान भर के पौधों को संस्कारवश आदमी के सारे चरित्र की याद हो आई। उनके मन में ये सब बातें गुजर गईं कि आदमी किस तरह, कब उनके साथ क्या करता है ? पर घास में इतने ऊँचे संस्कार न थे। इसलिए दूसरे दिन घास एक पौधे से पूछ ही तो बैठी।

घास—पौधे भाई, यह कौन प्राणी था जो दो हो जाता है और फिर एक हो जाता है ?

पौधा—घास दीदी, यह एक प्राणी नहीं है, दो हैं। जो दो पाँव से चलता है वह आदमी है, दूसरा घोड़ा है।

घास—तुम्हें तो यह बहुत प्यार करता मालूम होता है। तुम मेरे मित्र भी हो, भाई भी हो, तुम्हारा मित्र मेरा मित्र होना चाहिए; पर मैं तो उसे शत्रु समझती हूँ। उसने मुझे रौंद डाला, उखाड़ डाला और अपने घोड़े को खिला डाला। बताओ, यह क्या बात है ?

पौधा—घास दीदी, तुम उसे अपना शत्रु समझती हो, यह ठीक कहती हो। वह हमारा भी मित्र कहाँ है ? हमें तो वह मतलब के लिए बचाकर रखता है। हम जब बड़े हो जाते हैं और अपनी सन्तान पैदा करने लगते हैं, तब यह निर्दयी मनुष्य और इसके बालक हमारी कच्ची सन्तान को ही तोड़ लेते हैं, उसे पीस-पीसकर खा जाते हैं। अधपकी, पकी सभी सन्तान इनके खाद्य पदार्थ हैं। यह पापी मनुष्य तो हमारी डालियों व पत्तों तक को तोड़ लेता है। उनकी माला बनाता है। अपने मकानों के सिर में बाँधता है। अपने बूढ़ों-बड़ों से सुना है कि मकानों को चक्कर आता है। हमारे पत्तों की माला उस चक्कर का इलाज है। हमारे कोमल पत्तों को यह अपने पालतू पशुओं की खुराक बना डालता है। हमारी छाया का यह अच्छा उपभोग करता है। पर यह इतना कृतघ्न है कि जब हम बूढ़े हो जाते हैं, तब हमें काट डालता है। हमारी लकड़ी से जरूरी चीजें बनाता है। हमें जलाकर अपनी रोटी बनाता है। यह हमारा मित्र कैसे हो सकता है ?

अगर हम इसे मित्र समझते ही हैं तो मतलबी मित्र समझते हैं। मतलबी मित्र और शत्रु में कोई भेद नहीं होता।

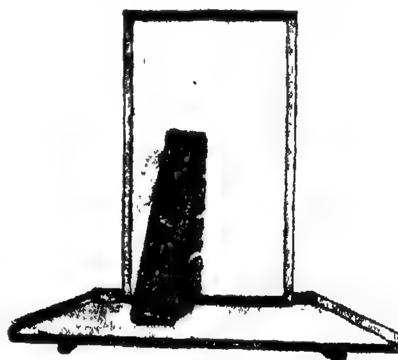
सब बात सुनकर घास की कुछ तसल्ली हुई, कुछ नहीं हुई। कई तरह की घास तो जल उठी, उनमें काँटे निकल आये। उन्हें गोखरू कहा जाता है। वे आदमी से बदला लेने लगीं। सब घासें पौधों से डाह करने लगी। उस दिन से घास पौधे की दुश्मन बन गई। उसकी जड़ खाकर उसे नष्ट करने लगी और पौधे पेड़ बनकर घास को अपने नीचे पनपने से रोकने लगे। **आदमी के कदम जहाँ पहुँचते हैं, वहाँ ऐसा ही कुछ होता रहता है।** ●

२१. कंघी और शीशा

मैं जैसे ही कंघी-शीशा लेने बढ़ा कि मुझे फुसफुसाहट सुनाई दी। मैं ठिठक गया। पता लगा दोनों में इस बात पर विवाद चल रहा था कि बड़ा कौन ? शीशे को अपने बड़ेपन का दावा था और कंघी को अपने बड़ेपन का।

शीशा—मैं चिकना हूँ, भारी-भरकम हूँ, चमकदार हूँ, इसलिए आदमी मेरा आदर करता है। मुझे सम्हालकर रखता है।

कंघी—मैं चमकदार, भारी-भरकम न सही, तुम्हारी जितनी चिकनी भी न सही, पर आदर तुमसे ज्यादा पाती हूँ। जहाँ तुम्हें जगह मिलती है वहीं मुझे जगह मिलती है। मैं हूँ तो तुमसे ज्यादा आदर के योग्य, पर तुम्हारा जितना आदर तो मुझे मिलता ही है। देखने में तो यह आया है कि बक्स में तुम नीचे होते हो और मैं ऊपर होती हूँ। जेब में भी रहती हूँ।



शीशा—ऊपर या जेब में होने से न आदर बढ़ता है और न मूल्य।

कंघी—यह कैसे ?

शीशा—पंख समुद्र की लहरों पर तैरता रहता है। मोती समुद्र की तह में रहता है, तो क्या पंख इससे बड़ा समझा जायेगा ?

कंघी—(व्यंग के साथ) शायद तुम आकाश के लिए भी यही बात कह दोगे और यही बात हवा के लिए भी कह दोगे।

शीशा—उनके लिए कहने की जरूरत नहीं। क्योंकि वे भारी-भरकम सूरज से और चमकदार चाँद से कहीं नीचे हैं।

कंघी—नीचे ऊपर से क्या लेना। जिस आदमी की बात चल रही है, हवा उस आदमी की जान है। वह सूरज के बिना बारह घण्टे रह लेता है।

चाँद के बिना भी तीन-तीन दिन रह लेता है। पर हवा के बिना तो तीन मिनट भारी हो उठते हैं। हर तीन-चार सैकिंड के बाद उसे हवा चाहिए ही।

शीशा—क्या तुमने कभी यह सोचा कि सारी दुनिया सूरज की देन है। हवा तो हवा, आदमी स्वयं उसी की सृष्टि है।

कंघी—तुम विषय से विषयान्तर हो रहे हो। ज्यादा ठीक तो यह रहेगा कि तुम अपने तक सीमित रहो और मैं अपने में। तुम यह बताओ कि तुम्हारा आदमी से क्या रिश्ता है ?

शीशा—तुम्हारे मुँह में घी-शक्कर। मेरा आदमी से घनिष्ट सम्बन्ध है। वह जब भी कहीं जाने लगता है, मुझसे सलाह लेकर जाता है। मुझसे पूछता है क्या मैं ठीक हूँ ? और जब मैं कह देता हूँ तब जाता है।

कंघी—बिलकुल गलत। तुम लाठी-जूते की तरह निकम्मी चीज हो। बल्कि उनसे भी पतित। तुम कह भर देते हो कि वह क्या है ? बदशकल है तो बदशकल कह दोगे। धूल पड़ी तो धूल पड़ा कह दोगे। बाल बिखरे हैं, तो वैसा कह दोगे। तुम जब धूलभरी अपनी छाती साफ नहीं कर सकते, तो तुम आदमी का क्या भला कर सकते हो ? जब तुम धूलभरे होते हो, तब तुम आदमी को धोखा दे सकते हो। अगर कहीं तुम टेढ़े-मेढ़े हुए तब तो आदमी के चेहरे को कुछ का कुछ बना देते हो। चपटे को लम्बा, लम्बे को चपटा, गोल आँख को लम्बी आँख, उठी नाक को चपटी नाक बना डालना तुम्हारे बायें हाथ का खेल है। तुम्हारी जरा-सी भूल आदमी को धोखे में डाल सकती है।

शीशा—कंघी, बातें न बनाओ। क्या तुम अपनी छाती की धूल धो सकती हो ? तुम तो खुद ही दँतीली हो। ऐबों से भरी हो। मेरे मुँह लगती हो। अगर मैं मनुष्य का आदरपात्र न होता, तो क्या बेमतलब ही वह मेरे ऊपर तुमसे कई गुना ज्यादा खर्च करता ? तुम इतना भी नहीं समझती कि आदमी कपड़े पहनेगा तो मुझे याद करेगा, आँख में कुछ हो जायेगा तो मुझे उठायेगा। चेहरे पर कुछ भी गड़बड़ होगी तो उसे मेरी याद आयेगी। तुम्हें यह तक नहीं मालूम कि एक त्यौहार ही ऐसा होता है जिस दिन एक आदमी दूसरे को शीशा दिखाता है और इनाम पाता है। कंघी, क्या तुम्हारे लिए ऐसा कोई त्यौहार है ?

कंघी—त्यौहार-व्योहार तो मैं जानती नहीं। हाँ, इतना जरूर जानती हूँ कि जो शीशा दिखाने आता है, वह कंघी साथ रखता है। रही दामों की

बात। सो दाम सोने के भले ही ज्यादा हों, पर मूल्य हवा और पानी का ज्यादा होता है। मेरा मूल्य तुमसे कहीं ज्यादा है। आदमी तुम्हें सिर्फ हाथ में लेता है, मुझे तो हाथ में लेकर दाढ़ी, मूँछ, भौं और सिर पर रखता है। तिस पर भी तुम अपने को मुझसे बड़ा समझने की ढीठता करते हो।

शीशा—बातें बढ़-बढ़ कर न करो। मैल साफ करने का काम करनेवाली कंघी को इतने बड़े बोल नहीं बोलने चाहिए।

कंघी—मैं कुछ करती तो हूँ, तू तो निकम्मा है।

शीशा क्रोधित होकर उसपर गिरकर उसके टुकड़े-टुकड़े कर डालने को ही था कि मैंने आगे बढ़कर दोनों को हाथ में थाम लिया और उनसे कहा कि धनमद, बलमद, विद्यामद, अधिकारमद इन्हें तो लड़ते देखा ही था, पर आज तपमद की लड़ाई भी देख ली। शीशे महाशय, तुम बेशक तपस्वी हो। तुम रेत और चमक से भट्ठी में तपकर बने हो। उसके बाद भी तुमने तरह-तरह की आफतें सहीं। काटे-छाँटे गये हो। आदमी ने तुम्हारी पारदर्शिता को नष्ट कर दिया, पर फिर भी तुम उसकी सेवा कर रहे हो, यह बेशक बड़ी तपस्या है, बड़ा त्याग है, पर कंघी तुमसे कम तपस्विनी नहीं है। वह पेड़ से काटी गई, उसके टुकड़े-टुकड़े किये गये। वह टुकड़ों में खुश थी कि फिर उसको आदमी ने जम्बूर में कस दिया और लगा उस पर आरी पर आरी चलाने। यह तपस्विनी समझ ही न पा रही थी। यह तो बुद्ध भगवान की तरह सर्वनाश में मुक्ति समझते हुए चुपचाप आपत्ति पर आपत्ति सही चली जा रही थी। इसकी तपस्या तुमसे किसी तरह कम नहीं। इसे यह कहाँ पता था कि आदमी के हाथ में पहुँचकर यह उसके सिर के बालों को सहलाकर और साफ करके माँ का कार्य करेगी और अब भी सदा आदमी की सेवा के लिए तैयार रहती है। तुम दोनों ही तपस्वी और त्यागी हो। पर आपस में लड़कर तुम अपनी सारी तपस्या को मिट्टी में मिला रहे हो। आज मुझे तुमसे पाठ तो मिला है कि **तपमद भी बहुत बुरी चीज है,** पर यही पाठ मैं तुम्हें दे रहा हूँ।

इसके बाद कंघी शीशा दोनों एक हो गये और कंघी ने ब्रश का रूप ले लिया और उसी की पीठ पर शीशा जुड़ गया। कंघी शीशे की अर्धांगी बन गई। दोनों ही आदमी के सिर पर पहुँचने लगे। दोनों का मूल्य बढ़ गया। ●

२२. कली और फूल

एक बागीचे में सैकड़ों झाड़ियाँ थीं। सबमें अपने-अपने ढंग की कलियाँ निकली हुई थीं। न जाने क्यों फूल एक भी न खिल पाया था। कोई कली फूल नहीं बन पाई थी।

माली जैसे ही बागीचे में पहुँचा, उसे बड़ी निराशा हुई। बाजार में बेचने की बात तो अलग, राजा के मुकुट और रानी के हार के लिए भी फूल न थे। वह सोच में पड़ गया। इतने में उसका छोटा बालक आ पहुँचा। उसने अपने पिता मे सुस्ती का कारण पूछा। कारण जानकर वह हँस दिया। दौड़ा-दौड़ा झाड़ियों के पास पहुँचा और रविश पर खड़े होकर उसने आवाज लगाई :—



हे कलियो, जो तुममें से खूब ज्यादा खिलेगी खूब ज्यादा गंध देगी उसी को मैं फूल बनने पर बाग का राजा बना दूँगा।

उसका यह कहना था कि कलियाँ चटखने लगीं और कुछ ही देर में बागीचे की सब झाड़ियाँ फूलों से लद गईं। माली यह चमत्कार देखकर दंग रह गया। जल्दी ही उसने सब फूलों को चुन डाला, उन्हें बाजार ले गया और जेब खनखनाता हुआ लौटा। शाम को उसने अपने लड़के से पूछा कि आखिर यह तुम्हें सूझा कैसे ?

लड़का बोला—आज ही मैंने पढ़ा था कि तारीफ किसको नहीं फुला देती और अब मैंने प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि **प्रशंसा बेहद मोहक होती है**। इससे पौधों और पशुओं से ही नहीं, आदमियों से भी सब कुछ कराया जा सकता है। ●

२१.२.६०

२३. पतिंगा

मक्खी, मच्छर एक दिन इस बात के लिए जमा हुए कि पतिंगे से पूछा जाय कि वह दीपक की लौ को इतना प्यार क्यों करता है ? और क्यों बेमतलब जान पर खेल जाता है। जब चर्चा चल पड़ी तो मक्खियों ने कुछ कहा और मच्छरों ने कुछ। कुछ की राय हुई कि यह उनका निजी मामला है। इसमें हम बीच में क्यों पड़ें ? कुछ मच्छर बोले, नहीं, नहीं, यह सामाजिक मामला है। पतिंगे हम जैसे पंखवाले प्राणी हैं। कीट-पतंग एक साथ बोला जाता है। हम सब एक ही जाति के हैं। अलग-अलग काम करने से अलग जाति के थोड़े ही हो जायेंगे और फिर कोई एक दो पतिंगे ऐसा करते तो



निजी मामला भी समझा जा सकता था। वे तो झुंड के झुंड प्राण देने के लिए उस पर कूदते हैं। यह निजी मामला कैसे हो सकता है ? वे जलकर मर भी तो नहीं जाते। उनके तो सिर्फ पंख जलते हैं। देह का शेष भाग तो सिर्फ घायल होता है। उन्हें तड़प-तड़पकर प्राण देने होते हैं और पंख के कारण हमसे डाह करनेवाली चींटियाँ उन तड़पते हुए हमारे भाइयों को अपने बिलों में ले जाती हैं। उनको अपनी खुराक बनाती हैं। छिपकली को मौका मिल गया तो कितनों का ही सफाया कर देती है। भला, यह निजी प्रश्न कैसे हो सकता है ?

एक मक्खी बोल उठी—निजी प्रश्न से मतलब था जाति-विशेष से। मनुष्य एक जाति के हैं। फिर भी उनकी हिन्दुस्तानी, चीनी, जापानी इत्यादि अलग-अलग जातियाँ हैं। एक जाति दूसरी जाति के मामले में दखल नहीं देती। हमें भी पतिंगों के मामले में दखल नहीं देना चाहिए।

एक बूढ़ा मच्छर बोल उठा—एक तो हम उनके मामले में दखल दे नहीं रहे। हम तो उनसे यह जानना भर चाहते हैं कि वे ऐसी मूर्खता या बुद्धिमत्ता आखिर करते क्यों हैं ? पूरा समाज अगर हमें कुएँ में गिरता दिखाई दे तो उसे रोकना तक निजी मामले में दखल देना नहीं समझा जा सकता। फिर उनसे सिर्फ पूछना तो कैसे भी बुरा नहीं समझा जा सकता।

एक बूढ़ी मक्खी बोल उठी—यह समझ बैठना कि एक समाज कुएँ में गिर रहा है, हमारी बुद्धि की धृष्टता ही होगी। कभी-कभी समाज को आबरू की खातिर नष्ट होना पड़ता है। क्या इसी बात को लेकर मनुष्य युद्ध नहीं करते ? क्या आबरू को ध्यान में रखकर राजपूतनियाँ पतिंगे की भद्दी नकल नहीं करतीं ? पर कोई आदमी उन राजपूतनियों को सीख देने नहीं गया। उल्टे उनके गीत गाये जाते हैं। यह पतिंगों के मामले में दखल देना निजी मामले में दखल देना होगा। उनसे पूछना कि वे क्यों ऐसा करते हैं, सो भी किसी तरह ठीक नहीं। पतिंगों के गीत तो मनुष्य गाते हैं। पतिंगों का अनुकरण करने के लिए वे अपने जवानों को उत्साहित करते हैं। कभी-कभी वे जो नाम नहीं जानते कीट-पतंग कहकर ही अपनों को उत्साहित करते हैं। इन पतिंगों के सहारे तो हम सब नाम पा गये हैं। क्या आपने नहीं सुना कि लोगों ने आजादी को शमा मानकर आदमियों को परवाने की तरह (पतिंगे की तरह) जल मरने के गीत बनाये हैं। इसलिए यह तो साफ जाहिर है कि पतिंगे कोई मूर्खता नहीं करते। अब रही यह बात कि इस काम में उनकी बुद्धिमानी क्या है ? सो इस तरह की बात पूछ बैठना बुद्धिमानी नहीं है। मेरी राय में तो जैसे चल रहा है, चलने दिया जाय। हम भी तो लालच में आकर जान गँवा बैठते हैं और आप मच्छर भी ऐसा कर बैठते हैं।

एक मच्छर बिगड़कर बोला—हम ऐसा क्या कर बैठते हैं ?

मक्खी बोली—तो क्या आप झुण्ड के झुण्ड धावा नहीं बोलते।

मच्छर बोला—यह कोई मूर्खता नहीं है। ऐसा काम तो हम खुराक हासिल करने के लिए करते हैं। इस काम की खातिर मरना भी समाज के लिए जीने के बराबर है।

मक्खी—क्या यही बात पतिंगों के लिए नहीं कही जा सकती।

मच्छर—नहीं, हरगिज नहीं। दीपक की लौ उनकी खुराक नहीं है।

इस तरह की कान्फ्रेन्स चल ही रही थी कि उधर से एक भूला-भटका पतिंगा आ निकला। उसने सारे मामले को कान्फ्रेन्स के एक मेम्बर से अच्छी तरह समझ लिया और सभापति की आज्ञा लेकर बोलने लगा।

पतिंगा—मेरे आदरणीय भाइयो, मक्खी और मच्छरो, हम सब दीपक की लौ पर इसलिए धावा बोलते हैं कि वहाँ हमें कुछ खाने को मिलेगा, इसलिए नहीं धावा बोलते हैं कि उसे हम प्यार करते हैं। हम उस कमबख्त को क्यों प्यार करने लगे ? उसने छिपकली के साथ साँठ-गाँठ कर रक्खी है। दीपक जलने के कुछ ही देर बाद छिपकली अपना घर छोड़कर हमारे शिकार में निकल पड़ती है। यह देख हमारा सेनापति हमें दीपक की लौ बुझाने का हुक्म दे देता है और हम उस पर टूट पड़ते हैं। कई बार हम उसको नष्ट करने में सफल होते हैं। पर कुछ बरसों से अजब हाल हो गया है। दीपक की लौ की जलन कम हो गई है। पर कोमलता कठोरता में बदल गई है। अब हमारे सिर फूटते हैं, पंख झड़ते हैं, पर हम जल नहीं पाते और लौ को बुझा तो पाते ही नहीं। अब आप ही कुछ बताइये कि क्या करें ?

मक्खी मच्छर दोनों ही अट्टहास कर बैठे। मानों उसे निरा मूर्ख समझ रहे हों और एक स्वर में बोल पड़े यह सब तो होना ही था। कुटने-पिटने से सड़क पक्की हो जाती है। कुट-पिट कर मकान का फर्श कठोर बनाया जाता है। फिर जब तुम बरसों से उस पर धावा बोल रहे हो तो उसे कठोर होना ही था और कठोर होने पर गरम रहने की क्या जरूरत।

ये सब बातें जब आदमी ने सुनीं तो मुसकरा दिया। पर जैसे ही उसके मस्तक में मानव-उन्नति के विचार आये और उसका इतिहास आँखों के सामने आया तो उसकी मुसकराहट गम्भीरता और आश्चर्य में बदल गई। ●

२४. स्वाधीनता स्वप्न बन गई

एक पालतू घोड़ा था, जो तांगे में जोता जाता था। रोज खूब दाना, घास खाता था। गुड़ मिला रातिब उड़ाता था। एक दिन चरते-चरते जंगल में भटक गया। न मालिक को ढूँढे मिला, न घोड़ा ही घर की राह ढूँढ पाया।

कुछ दिनों के बाद उसी जंगल में होकर एक आदमी अपने लद्दू घोड़े को लेकर निकला। जेठ का महीना था, पेड़ों की ठंढी छाया देख दोपहरी बिताने घोड़े का मालिक वहीं एक पेड़ के नीचे लेट गया। घोड़े को चरने छोड़ दिया।



घोड़ा आनन्द के साथ चरने लगा। इतने में उसने बड़े जोर की आवाज सुनी। पहले तो वह उसे दहाड़ समझा, पर चरना छोड़ सिर उठा कान खड़े कर जब उसने उस दहाड़ को ध्यान से सुना तो आनन्द से हिनहिना उठा। क्योंकि वह आवाज दहाड़ नहीं थी। किसी मजबूत और स्वाधीन घोड़े की हिनहिनाहट थी। ज्यादा आनन्दित होने की बात यह भी थी कि उस ध्वनि में कुछ ऐसा आभास मिलता था मानो वह उसकी जानी-पहचानी ध्वनि हो। घोड़ा अपनी दासता भूल उसी ओर चल दिया।

स्वाधीन घोड़े ने जैसे ही जंगल में दूसरे घोड़े की आवाज सुनी कि वह आनन्द से नाच उठा। पूँछ हवा में फैलाता हुआ, ठोकरों की परवाह

किये बिना छोटे-मोटे नालों को फाँदता हुआ उस आवाज करनेवाले से मिलने को दौड़ा।

दोनों की जल्दी ही भेंट हो गई। स्वाधीन घोड़े ने पराधीन घोड़े को क्षणभर में पहचान लिया। पराधीन को स्वाधीन को पहचानने में कुछ क्षण लगे।

पराधीन घोड़ा—अरे यार, मालूम होता है तुम्हें यहाँ रातिब ही रातिब मिलता है। घास तो यहाँ बहुत है। उसे तो तुम छूते भी न होगे। दाने की भी क्या कमी होगी। यह दूसरी बात है कि दाने पर रातिब के आगे तुम मुँह भी न डालते होगे। पर पानी कहीं नहीं दिखाई देता। इसका तुम्हारे लिए क्या प्रबंध है ?

स्वाधीन घोड़ा—रातिब ! रातिब क्या चीज होती है ? उसका तो मैंने नाम भी नहीं सुना। दाना, हाँ दाने की याद है। क्योंकि उसके लिए मुँह पर तोबड़ा बाँधा जाता था और कष्ट क्या कभी भुलाया जा सकता है। पर हरी-हरी घास के सुख में तोबड़े के कष्ट की याद मिटती सी जा रही है। जिस घास के बारे में तुम समझे हुए हो कि मैं छूता भी नहीं हूँ वही घास तो मेरी खुराक है। जरा नाक ऊँची उठाकर देखो, इसकी गंध से तुम्हारा दिमाग तर हो जायेगा। भूख इतने जोर की लगेगी कि पेट में चूहे कूदने लगेंगे और सब दाना-रातिब भूल जाओगे और रही पानी की बात सो कुछ ही दूर चश्मा है, वहाँ मोती की तरह धोया हुआ पानी पीने को मिलता है। हाँ, हाँ, मिलता है अपनी टाँगों के बल; बाल्टी भरकर कोई सामने नहीं रखता।

पराधीन घोड़ा—चण्डुखाने की गप न उड़ाओ। तुम घोड़े से हाथी बन गये हो, यह बगैर आराम के कैसे हो सकता है ? मैं तो शहर में अपनी आँखों देखता हूँ कि वही सेठ सबसे ज्यादा मोटे होते हैं जिन्हें हर चीज अपनी गद्दी पर बैठे-बैठे नसीब हो जाती है और तुम कहते हो कि तुम पानी अपनी टाँगों के बल से हासिल करते हो। दाना-रातिब सुपने में भी नहीं पाते। खालिस घास पर रहकर क्या कोई घोड़ा भैंसा भी बन सकता है ? पर तुम तो हाथी जैसे बने हुए हो। सरासर झूठ बोल रहे हो।

स्वाधीन घोड़ा—मेरी देह को अपने दाँतों से काटकर देखो। मेरी जाँघों को उन्हीं से टटोल कर देखो और अगर तुम झिझकते नहीं हो तो

मुझ पर कहीं भी दुलत्ती झाड़कर देखो। तब तुम्हें पता चलेगा कि मेरी देह हाथी या भैंसे की देह नहीं है, आजाद घोड़े की सुडौल और सुगठित देह है। मेरी टाँगें दौड़ते-दौड़ते लोहे जैसी कड़ी हो गई हैं। ताँगे में जुतकर दौड़ने और पूँछ उठाकर गर्दन ऊँची करके आजादी से ठोकरों को लाँघते हुए दौड़ने में जमीन आसमान का अन्तर होता है। मैं न गप्प हाँक रहा हूँ, न बेपर की उड़ा रहा हूँ। एक-एक शब्द नपा तुला कह रहा हूँ। आजादी चीज ही अनोखी है।

पराधीन घोड़ा—अगर तुम सबकुछ सच कह रहे हो, तब फिर यह भी सच होना चाहिए कि तुम रात खूब सुख से बिताते होगे, न कभी आँखें खोलने की जरूरत पड़ती होगी, न कान खड़े करने की।

स्वाधीन घोड़ा—स्वाधीनता में यही तो ऐब है। जंगल तबेला नहीं है। जहाँ पानी अपने आप ढूँढ़ना पड़ता है, वहाँ अपना तबेला खुद बनाना पड़ता है और फिर वह एक जगह कहाँ रहता है ? उसे पीठ पर लादे-लादे फिरना पड़ता है। खानाबदोश आदमी होता है, खानाबपुश्त घोड़ा होता है। तुम कहते हो आँख खुलती न होगी। मैं कहता हूँ आँख झपक ही नहीं पाती। तुम कहते हो कि कान खड़े न करने पड़ते होंगे, रातभर कान खड़े ही रहते हैं। बस इतनी बात है कि मैं अकेला घोड़ा हूँ। तेन्दुए को छोड़ इस जंगल में कोई मेरे सामने नहीं ठहर सकता। कुछ दिन से उस पर भी मेरी धाक तो जम गई है, पर वह तो वही है। कमबख्त की देह तो मक्खन जैसी मुलायम है। पर न जाने क्या जादू करता है कि मेरी दुलत्ती जब कभी भी उसकी भूल से उसकी देह को छू जाती है तो भद्द की आवाज नहीं निकलती, खट्ट की आवाज निकलती है। मानो मेरे सुम ने किसी दीवार से टक्कर खाई हो। यह सब है, पर नींद है कि रात को पास आते हुए घबराती है।

पराधीन घोड़ा—तब यह मोटी देह कैसे बनी हुई है ?

स्वाधीन घोड़ा—बचाव की खातिर। जीते रहने की खातिर।

पराधीन घोड़ा—चलते हो मेरे साथ ?

स्वाधीन घोड़ा—नहीं, रहते हो मेरे साथ ?

पराधीन घोड़ा—नहीं, समझ देख लिया, जितनी आजादी उतना ही दु:ख। जितनी कम आजादी उतना ही कम दु:ख।

स्वाधीन घोड़ा—पूरी आजादी भारी से भारी दु:ख को सह सकती है। हँसते-हँसते सह सकती है। थोड़ी-सी गुलामी भी थोड़े से दु:ख को बहुत तकलीफ के साथ सहती है। मेरा सिर देखो और अपना सिर देखो।

पराधीन घोड़ा—हाँ, देख रहा हूँ। तुम ऊपर को देख रहे हो। जहाँ घास नहीं उगती। मैं नीचे को देख रहा हूँ जहाँ घास उगती है।

स्वाधीन घोड़ा—मैं ऊपर को देख रहा हूँ, जहाँ विशालता रहती है, स्वाधीनता रहती है, जीवन की बौछार बरसती है। तुम नीचे देख रहे हो जहाँ तुच्छता निवास करती है, जहाँ दासता रहती है और जहाँ खूँटा गाड़ा जाता है।

पराधीन घोड़ा—(सिर उठाकर) यह बात है !

अभी बात पूरी भी न हो पाई थी कि लद्दू घोड़े के मालिक ने आकर अपने घोड़े के अयाल पकड़कर उस पर लगाम चढ़ा दी। लद्दू घोड़ा एकदम बिगड़ा। एक क्षण के लिए पूरा जोर लगाकर अपने दोनों अगले पाँव उठाकर पिछले पावों पर खड़े होकर उसने स्वाधीन होना चाहा। पर स्वाधीन घोड़े को सर पर पाँव रखकर भागते देख उसका जोश ठंढा हो गया, और फिर स्वाधीनता सपना होकर रह गई। ●

२५. फूल और आदमी

एक आदमी ने गुलाब के फूल से पूछा—तुम सचमुच बड़े भले हो, बड़े मुलायम हो, बड़े सुन्दर हो, बड़े सुगंधित हो, बड़े मोहक हो। बताओ तो ये सारे गुण तुममें कहाँ से आये ?

गुलाब के फूल ने मुसकराकर कहा—तुम आदमी हो, जिसे सृष्टि में श्रेष्ठतम माना गया है। वह आकाश-पाताल के कुलाबे मिलाता है, उसने समुद्र की तह में मोती ढूँढ़ निकाला। उसने दूरबीन से अदृश्य तारों को देख लिया। खुर्दबीन से कीटाणुओं की खोज कर ली। अणु का चित्र अनुमान से खींच लिया। इस सृष्टि के रचयिता का पता लगा लिया तो क्या आदमी यह सोच नहीं सकता कि मुझे यह मृदुलता, सुन्दरता, मोहकता इत्यादि कहाँ से मिली ?

आदमी—मैं सोच तो सकता हूँ पर सुभीते के लिए तुमसे पूछ रहा हूँ।



फूल—मैं समझता हूँ तुम नहीं सोच सकते। तुम्हारी बुद्धि हाथी जैसी विशाल है, हाथी बड़े-बड़े लक्कड़ उठा सकता है, पर रेत में पड़े शक्कर के कण को नहीं उठा सकता। यह काम चींटी कर सकती है। तुम्हारी सूझ इससे आगे नहीं जा सकती कि यह मृदुलता मुझे तुम्हारे उस ईश्वर ने दी है जिसके विषय में तुममें से कोई कुछ कहता है और कोई कुछ।

आदमी—मेरे प्यारे फूल, तुम जो कुछ कह रहे हो, सच है। तुमने मुझ पर मेरे अज्ञान का भेद खोल दिया और जब मुझे मेरी अज्ञता का पता चल गया, तब विनम्रता अपने आप आ धमकी। इसलिए मैं नम्रता से फिर तुमसे विनती करता हूँ कि बताओ ये सब गुण तुम्हें किससे प्राप्त हुए ?

फूल—जो गुण मुझमें हैं क्या वे सब तुममें से किसी में नहीं होते ? साधु ने अपने गुस्से को नष्ट करके क्षमा प्राप्त कर ली होती है। अपने

मान का महल ढाकर मार्दव की कुटी तैयार कर ली होती है। माया को फेंककर आर्जव को गले लगा लिया होता है और इसी तरह शौच आदि शेष रहे गुण अपना लिये होते हैं। जो उनकी प्राप्ति के कारण हैं, उन्हीं कारणों से मुझे मेरे गुण प्राप्त हैं।

आदमी—आदमी तो सारे गुण तपस्या से प्राप्त करता है। तो क्या तुमने भी तपस्या की है ?

फूल—राजा तो तपस्या नहीं करता, पर उसमें वे सब गुण होते हैं जो एक साधु में होते हैं। राजर्षि छोटा शब्द नहीं है। ऋषि से बड़ा शब्द है। जनक और भरत तपस्वी नहीं थे। पर ऋषियों के सब गुण उनमें मौजूद थे। फिर इन गुणों की प्राप्ति का कारण तपस्या कैसे हो सकती है ? मैं कहता न था कि तुम धरती की न सोचकर सदा आकाश की सोचते हो।

आदमी—तो क्या तपस्या से ये गुण प्राप्त नहीं होते ?

फूल—कमल मुझसे कम सुन्दर नहीं, किसी बात में मुझसे कम नहीं, पर उसके माता-पिता का तुम्हें पता है ?

आदमी—हाँ-हाँ, उसका नाम ही जलज और नीरज है।

फूल—हाँ, ठीक है, जल उसका पिता है। क्योंकि वह उसका पालन-पोषण करता है, पर उसकी जननी कौन है ?

आदमी—पंक यानि कीचड़, वह पंकज भी है।

फूल—कीचड़ से कमल पैदा होता है जब यह कहने में कोई संकोच नहीं है तो फिर यह कहने गें क्यों संकोच है कि कमल उन गुणों को कीचड़ से प्राप्त करता है ?

आदमी—तो फिर क्या मैं यय समझूँ कि आप में ये गुण खाद से प्राप्त हैं ?

फूल—नि:संदेह और यह कि मुलायमियत मैंने काँटे से सीखी है। उसी के बल पर मैं मुलायम बना हुआ हूँ। काँटा मैं ही हूँ। मेरी ही कठोरता ने काँटे का रूप ले रखा है।

आदमी—तो क्या आप मुझे यह कहने के लिए मजबूर करते हैं कि **साधुता असाधुता के बल पर चलती है और न्याय अन्याय से बल प्राप्त करता है !**

फूल—मैंने अपनी बात कह दी। आप अपने बारे में जैसा चाहें, सोचें। ●

२६. सेवा में ही ईश्वर-दर्शन

किसी आदमी ने किसी तपस्वी की देखा-देखी तपस्या शुरू कर दी। आदमी मजबूत था। जल्दी ही तपस्या में उस साधु से बाजी मार ले गया जिसकी देखा-देखी उसने तपस्या शुरू की थी। यह सब तो हुआ, पर उसे न कोई ऋद्धि प्राप्त हुई और न कोई सिद्धि। पूजा तो फिर उसे मिलती ही कैसे ?

वह सीधा साधु के पास पहुँचा। बोला—महाराज, मैंने तपस्या तो बहुत की, पर मेरे हाथ कुछ नहीं लगा।



साधु बोला—तुमने कैसे जाना कि तुम्हें कुछ भी हाथ नहीं लगा।

वह बोला—क्योंकि मेरे पास इस तरह लोग नहीं आते जैसे आपके पास आते हैं।

साधु बोला—तुम निर्विकार निर्लेप होकर ईश्वर का भजन करो। जब ईश्वर तुम्हें दर्शन देंगे तब तुम्हें वह सब मिल जायेगा।

वह बोला—तो क्या आपको ईश्वर-दर्शन हो चुके ?

साधु बोला—हाँ, अवश्य।

वह बोला—ईश्वर का रूप कैसा है ?

साधु बोला—यह जानने की जरूरत नहीं। जब तुम्हें ईश्वर दर्शन देंगे, तब तुम स्वयं ही जान जाओगे।

वह चला गया और फिर तपस्या में जुट गया। कुछ दिनों के बाद वह साधु का बाना फेंककर सेवा के काम में लग गया। किसी ने यह पूछा ही नहीं कि वह क्यों साधु बना, क्यों तपस्या की और क्यों जन-सेवा में जुटकर, साधारण गृहस्थी जैसे काम करने लगा।

जब साधु को मालूम हुआ कि उसका शिष्य गृहस्थ हो गया है तो अचरज में पड़ गया। रातभर उसे नींद नहीं आई। आखिर सीधा उसके पास पहुँचा और उससे पूछा कि तुमने यह क्या किया ?

वह बोला—मैंने तो वही किया जो मेरे राम ने मुझसे करने को कहा।

साधु—तो क्या तम्हें साक्षात्कार हो गया ?

शिष्य—जी हाँ, महाराज।

साधु—ईश्वर का रूप कैसा था ?

शिष्य—बिलकुल मेरे जैसा ?

साधु—उसने तुमसे क्या कहा ?

शिष्य—यही कि तू देखता नहीं है मैंने ऐसी सृष्टि बनाई है जो एक क्षण के लिए भी यदि गतिहीन हो जाय तो सब नष्ट हो जाय। मैं भी अगर एक क्षण के लिए गतिहीन हो जाऊँ तो न मैं रहूँ, न सृष्टि बचे।

इतना कहकर शिष्य चुप हो गया।

साधु पूछ बैठा—आगे क्या हुआ ?

शिष्य बोला—आगे जो हुआ वह आपके सामने है।

साधु सुनकर यह कहता हुआ चलता बना कि तुझे साक्षात्कार हुआ है। मुझे नहीं हुआ था। अब मैं साक्षात्कार करके रहूँगा। ●



२७. जौ और शराब

देशभर में प्रसिद्ध महात्मा की कुटी में कोई चोरी से या अनजाने शराब की एक बोतल रख गया। उसी बोतल के पास भुने हुए जौ की एक हंडिया रखी थी। महात्मा ध्यानस्थ थे। पर अचानक उनका ध्यान भंग हो गया, जब कुटी में उन्होंने कुछ खुसुर-फुसुर सुनी। आवाज कोने में रखी हंडिया की तरफ से आ रही थी। उन्हें अचरज हुआ कि आज हंडिया कैसे बोल रही है वह भी अकेली। पर जब दूसरी आवाज सुनाई दी तो उन्हें आँख खोल अपनी तसल्ली करनी पड़ी। वे उठे, बोतल देखी, उसकी गंध से समझ गये कि उसमें शराब है। जी में आया तुरन्त उसे बाहर फेंक दें, पर वार्तालाप के लालच से उन्होंने अपने क्षोभ को रोक लिया और चुपचाप पहले की तरह ध्यानस्थ होकर बैठ गए। वार्तालाप चल पड़ा।





हंडिया के **जौ**—(बोतल के अंदर के रस से) आप कौन हैं ? महात्मा की कुटी में आपका आगमन कैसे हुआ ?

बोतल के अन्दर की **सुरा**—(उफनकर और कुछ बिगड़कर) तुम पूछनेवाले कौन ?

जौ—हम इस कुटी के तुच्छ सेवक हैं। मैं उनमें से एक हूँ।

सुरा की बूँद—हम सुरा बूँदसमूह। मैं उनमें से एक। हमसे बात करने का या पूछने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं।

जौ—मैं कितना ही तुच्छ सेवक क्यों न होऊँ, महात्मा का सेवक हूँ। सेवक ही नहीं, मुझे उनका सामीप्य और सान्निध्य प्राप्त है। कई अंशों में मैं उनकी देह का रचयिता हूँ। पर न मुझे उस सबका अभिमान है, न उसका सहारा लेना चाहता हूँ। मैं तो तुच्छ सेवक की हैसियत से ही यह कह रहा हूँ कि जो कोई इस कुटी में प्रवेश करे, उसे आज्ञा लेकर आना चाहिए। पूछने पर उसे ठीक-ठीक उत्तर देना चाहिए।

सुरा बूँद—हम मामूली व्यक्ति नहीं हैं। राजाओं का महल हमारा निवासस्थान है। राजाओं की देह-रचना में हमारा भी अंश है। इस नाते हम देशभर की मालिक हैं। कहीं भी बिना पूछे प्रवेश कर सकती हैं। मालिक पूछकर नहीं आया करते।

जौ—इस कुटी में मैं अनेक बार राजा ही नहीं, देश-देश के राजाओं को अपनी आँखों आज्ञा मानकर प्रवेश करते देख चुका हूँ। और इस कुटी के महात्मा के चरण छूते देख चुका हूँ, साष्टांग दण्डवत करते देख चुका हूँ। हाथ जोड़कर नीची निगाह किये मन्द स्वर में प्रार्थना करते देख चुका हूँ।

सुरा बूँद—मूर्ख, ठूँठ जौ तू जो कहता है ठीक है, पर तुझमें इतनी बुद्धि कहाँ जो तू यह समझ सके कि यह राजाओं की कृपा है। इससे उनकी शालीनता सिद्ध होती है। कहाँ महल और कहाँ कुटी, कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगुवा तेली। कहाँ आकाश और कहाँ पाताल। अगर कभी भूले-भटके हाथ कसरत करते समय पाँव को छू ले तो क्या इससे पाँव बड़े समझे जा सकते हैं ? या आसन करते समय सिर घुटनों से जा लगे या अगर घुटने सिर की बराबरी करने लगे तो क्या वे कभी सुनने, देखने, सूँघने योग्य हो सकते हैं ? भिखारी के नौकर जौ, तुझे इसमें ही अभिमान मानना चाहिए कि हम तुझसे बात कर रही हैं।

जौ—शायद यह भी राजा की कृपा है कि जब महात्मा दरबार में पहुँचते हैं तो राजा आसन से उठकर खड़ा हो जाता है और अगर महात्मा जरा आँख दिखा दें तो शायद यह राजा की कृपा ही होती है, जो उसकी

बोलती बंद करा देती है। महल भी शायद अपनी खुशी से भस्म हो जाते हैं। महात्मा के शाप से तो हो नहीं सकते। पर मैं न इस सबका सहारा लेता हूँ न यही समझ पा रहा हूँ कि यह सब आपकी समझ या पहुँच के अंदर है। मैं तो विनम्र होकर यही पूछना चाहता हूँ कि आपकी यहाँ तक पहुँच कैसे हुई ?

सुरा बूँद—जी तो चाहता है कि तुझ लठ को ठोकर मारकर चुप कर दिया जाय। पर हमारा जोश यह कहने के लिए मजबूर करता है कि हम और हमारी सब साथिनें राजा के साथ पालकी के अंदर इस पवित्र बोतल में बैठकर आई हैं। राजा साहब शिकार खेलने चल दिये हैं। अपने हाथों हमें वहाँ बिठा गये हैं। हम तेरी तरह 'ऐरे गैरे नत्थू खैरे' नहीं हैं। रही हमारे कुल-गोत्र की बात, सो हम यववंशी हैं। यानि महानवंशी हैं। तुझ मूर्ख को तो यववंश का ज्ञान भी नहीं होगा। तूने तो वेदों का नाम भी नहीं सुना होगा। उनमें इस वंश का बखान भरा पड़ा है।

जौ—हा-हा, जिन वेदों का यहाँ नित पाठ होता है, उनको देवी जी, आप जानती हैं। मैं भला क्या जानूँ! रही राजा की पालकी की बात, सो उसमें बैठकर कौन-कौन आते हैं, इसका मुझे पता है। मैंने यववंश का नाम ही नहीं सुना, मैं खुद यव हूँ। जिसको वेद में यव कहा गया है वही आजकल जौ कहा जाता है। देवीजी, इस नाते आप मेरी बेटी हुई।

सुरा बूँद—(बात काट कर) बकवास न बको, कहाँ यव और कहाँ जौ।

जौ—देवीजी, मैं नित बरसों अपनी आँखों अपने भाइयों को सड़ते हुए और तुम्हें पैदा करते हुए देख चुका हूँ। तुम्हारे एक बूँद के पैदा करने में सैकड़ों हजारों जौ इतनी बुरी तरह गंधियाने लगते हैं कि जिनकी गंध को कोई संयमी सहन नहीं कर सकता और फिर वे किसी काम के नहीं रह जाते। उनमें कोई शक्ति मनुष्य-देह की रचना के योग्य नहीं रह जाती। उससे जो तुम उत्पन्न होती हो उसमें भी देह-रचना की कोई शक्ति नहीं होती। मस्तक को गरम करने की शक्ति होती है। मस्तक गरमा जाता है। मामूली गरमी से ज्यादा बढ़ा और जिसे मजबूरन बढ़ना ही पड़ता है, तो मस्तक नरसंहार पर उतर आता है। जिस तरह तुम हजारों जौ को नष्ट

करके उत्पन्न हुई हो, इसीसे वह मस्तक सैकड़ों-हजारों मस्तकों को पागल बना देता है। अब मुझे तुमसे 'तू' बोलने का अधिकार है। इसलिए मैं कहता हूँ कि तू मेरे ऐसी कुल-कलंकिनी पैदा हुई, जो न स्वादिष्ट है, जो न ठंढक पैदा करने में सहायक है, जो पानी होते हुए प्यास नहीं बुझा सकती, जो देखने में जल परंतु वास्तव में आग है। फिर भी न जाने कहाँ से ऐसा आकर्षण चुरा लाई है कि आदमी तुझे पाने की खातिर दुनिया भर के छल-कपट करता है और तुझे पा जाने पर अपनी बुद्धि गँवा बैठता है। अपनी हानि करता है और दूसरों की हानि करता है। आदमी का नुकसान होने से हमारा नुकसान है, उसे मैं गिनती में नहीं लेता। मेरा तो कहना यह है कि तूने जो देवी पद प्राप्त किया है और जो झूठा ही है, वह तुझे मेरे जैसे हजारों-लाखों को गुण्डा बनाकर प्राप्त हुआ है। यानी तेरा देवीपन हमारे गुण्डेपन का कारण है।

जौ का यह उपदेश सुरा पर काम कर गया। सुरा भड़क उठी। बोतल की डाट उड़ी। वह छत से जा टकराई। बोतल की सुरा का निर्वाण हो गया।

यह वाद-विवाद सुन और यह दृश्य देख महात्मा को ज्ञान हुआ। उन्हें ऐसा मालूम होने लगा मानो वे ही देशभर के गुण्डों की सृष्टि के कारण हैं। यह विचार जोर पकड़ता गया। खोपड़ी फटी और प्राण-पखेरु उड़ गया। आत्मा का क्या हुआ, कहाँ गया, कुछ पता नहीं। ●

२८. महानता से बचना ही महानता

(खजूर और आम का संवाद)

खजूर के पेड़ के पास एक आम का भी पेड़ था। एक दिन आम का पेड़ जब फलों से लदा हुआ था, तो खजूर के पेड़ को ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह दु:खी है। खजूर को आम की टहनियाँ झुकी हुई दिखाई दीं, जिससे वह समझा कि आम सर झुकाये किसी चिन्ता में निमग्न है। अतः पूछ बैठा।

खजूर—भाई आम ! आज तुम गर्दन झुकाये कैसे खड़े हो ? कुछ चिन्तित से मालूम होते हो ?

आम—(गर्दन झुकाये ही झुकाये, क्योंकि गर्दन उठाना उसके लिए असम्भव था) नहीं, चिन्तित तो नहीं हूँ।



खजूर—फिर सिर क्यों नहीं उठाते ?

आम—(मन ही मन यह खजूर का पेड़ जितना लम्बा है उतना ही मूर्ख है। मैं अपने ही मुँह कैसे कहूँ 'देते हैं सेमर शाखें सेमर वट को झुकाकर, झुकते हैं, सखी वक्ते करम और जियादा') सिर उठाना अच्छा नहीं समझा जाता।

खजूर—कल तक तो तुम सिर उठाये हुए थे ?

आम—तब मैं नासमझ था।

खजूर—मैं कई साल से तुम्हारे साथ हूँ। तुम सालभर में कितनी बार समझदार होते हो और कितनी बार नासमझ ?

आम—(अन्दर का दम अन्दर और बाहर का बाहर, कुछ देर चुप रहकर) अब मैं तुमसे क्या छिपाऊँ। मैं सचमुच चिन्तित हूँ। बोझ से मरा जा रहा हूँ।

खजूर—बोझ कैसा ?

आम—यही फलों का।

खजूर—फलों के बोझ से झुकने का क्या मतलब ? फल तो मैं भी देता हूँ। फल लटकते रहते हैं, मेरे पत्ते सिर उठाये हवा में झूमते रहते हैं। तुम उनकी वजह से क्यों बोझिल और चिन्तित हो ?

आम को यह बात अच्छी नहीं लगी और आखिर उसके मुँह से निकल ही गया कि तुम स्वार्थी हो।

यह सुनकर **खजूर** बोला—क्या तुमसे भी ज्यादा ?

आम—मैं कैसे स्वार्थी हूँ ?

खजूर—तुम अपने साये के नीचे आदमियों को तो बैठाते हो, पशुओं को भी नीचे आने देते हो। पक्षियों को अपनी शाखाओं में घोंसले बनाने देते हो, पर न घास को उगने देते हो, न पौधों को जड़ पकड़ने देते हो, न अपने बच्चों को पनपने देते हो। किस मुँह से मुझे स्वार्थी कहते हो ? मैं तुम्हें अपने नीचे जगह दिये हुए हूँ। तुम्हारी बढ़वारी में सुख मानता हूँ। तुम उस आदमी के बहकावे में आ गये हो, जिसने कह मारा है "**बड़ा हुआ तो क्या हुआ जैसे पेड़ खजूर, पंथी को छाया नहीं फल लागे अति दूर**"। आदमी को तो विभीषण प्यारे हैं। कुत्ते प्यारे हैं। यानी सब जातिद्रोही प्यारे हैं और तुम वही करते हो। उसी में अभिमान मानते हो।

आम का पेड़ सोच में पड़ गया। वह तय ही नहीं कर पा रहा था कि महानता क्या है ? संकोच छोड़ खजूर से पूछ बैठा।

आम—महाशय, फिर आप ही बताइये कि निःस्वार्थता और महानता क्या है ?

खजूर—महानता से बचना ही महानता है। परार्थ करना स्वार्थता है और परार्थ होने देना निःस्वार्थता है। ●

२९. मठा (छाछ) और मक्खन

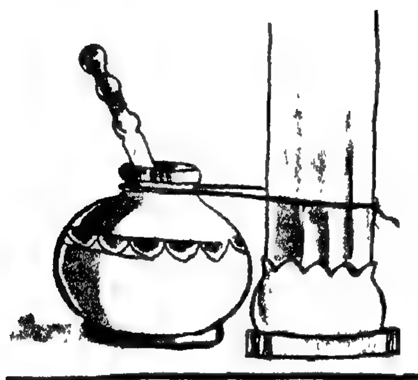
मक्खन—मठे महाशय, तुम्हारा क्या हाल है ?

मठा (छाछ)—बहुत अच्छा हाल है और अनोखा भी है।

मक्खन—अनोखा कैसे ?

मठा—अनोखा यह कि हल्कापन दूर करके मैं हल्कापन अनुभव कर रहा हूँ और भारी-भरकम तो बना ही हुआ हूँ।

मक्खन—क्या मतलब ?



मठा—अति ज्ञान अज्ञान का रूप ले लेता है। अति प्रकाश आँखों के लिए अंधेरा बन जाता है। अति मीठा कड़ुवा हो जाता है। तभी तो समझदार लोग कह गये हैं 'अति सर्वत्र वर्जयेत।' सभी जगह अति करना मना है। आदमी का वश चलता तो दुनिया भर की आँखों को एक जगह इकट्ठा कर लेता और समझता कि इस तरह वह सम्यक्दर्शन प्राप्त कर लेगा, सर्वदर्शी बन जायेगा। पर उसे पता नहीं कि वह अंधा हो जायेगा। आदमी का वश चलता तो वह सिर से पैर तक कान ही कान बन जाता। पर उसे क्या पता कि वह कुछ भी न सुन पाता। अति जोर की आवाज कान नहीं सुन सकते। अति श्रवणशक्ति सुनने के काम की नहीं रहती।

मक्खन—मठे महाशय, तुम तो उपदेश झाड़ने लगे। व्याख्यान फटकारने लगे। संक्षेप में कहो, क्या कहना चाहते हो।

मठा—यही कि तुम अति हल्के हो गये हो। इसी कारण मुझ पर तैरते फिरते हो। अब तुम सबके काम के नहीं रहे। कुछ के काम के रह गये। एक और बात हो गई है कि न अब तुम अपने को समझ सकते हो और न मुझको।

मक्खन—यह क्यों और कैसे ?

मठा—इस तरह कि अब तुम समझ ही समझ बन गये हो। यानी ज्ञान ही ज्ञान रह गये हो। ज्ञान, ज्ञान का क्या ज्ञान करे। ज्ञान तो ज्ञेय का होता है। पहले तुम सब जगह मुझमें फैले हुए थे। तुम भी थे, तुम्हारे साथ शक्कर थी, मांड था, नमक था, चूना था, अनेक धातुएँ थीं। तब तुम्हारी समझ काम करती थी। क्योंकि ज्ञान के लिए ज्ञेय था। अब भी तुम्हारा हल्का-सा कण वहाँ मौजूद है। वह तुमसे हजार गुना ज्ञानी हो गया है और तुम उसे भुलाकर महाज्ञानी होते हुए भी अज्ञानी बन गये हो।

मक्खन—मैं सुन रहा हूँ। कुछ और कहो। मुझे तुम्हारी बातें रुचिकर मालूम हो रही हैं।

मठा—मैं जरूर कहूँगा। तुम फैले हुए अमृत थे और अब संग्रहीत होकर जहर बन गये हो। तुम्हें खाकर अगर कोई लाभ उठाने का घमंड करता है, तो वह वैसा ही घमंड करता है, जैसे कोई थोड़ी शराब पीकर स्वास्थ्य-लाभ का घमंड करे या नशा पीकर बल आ जाने का विश्वास कर बैठे। क्या तुम्हें नहीं मालूम कि धोने-धुलाने से तुम्हारा जहर ऐसे ही चमक उठता है जैसे भांग धोने से भांग का नशा। सौ दफे धोकर तो तुम खालिस जहर रह जाते हो।

मक्खन—तुम्हारी बात तो ठीक है, पर जहर होकर तो मैं काम का हो जाता हूँ।

मठा—निकम्मी तो दुनिया में कोई चीज नहीं होती। चोर, उचक्के, डाकू यहाँ तक कि कोढ़ी आदि सभी का कुछ-न-कुछ उपयोग है। पर जिस तरह चोर उचक्के समाज की नजरों में गिर जाते हैं और जिस तरह कोढ़ियों को दया का पात्र समझा जाता है और अलग बसाया जाता है, वैसा ही तुम्हारा भी उपयोग है।

मक्खन—पर मेरा तो सदुपयोग है, महा उपयोग है। मैं न होता तो भगवान कृष्ण और यशोदा के गीतों का रस आधा रह गया होता।

मठा—गीत तो शराब के भी गाये जाते हैं। वह भी तुम्हारी ही बिरादरी की है। तुम्हारा बड़प्पन अपना कुछ नहीं है। सूरदास के भजनों की ऐनक ने तुम्हें कुछ का कुछ दिखा दिया है।

मक्खन—यह तुम क्या कह रहे हो ?

मठा—अभी तुम में कुछ अंश मेरा है। आग पर चढ़कर जब तुम खालिस घी बन जाओगे और जब तुमको आग पर डाला जायेगा तब तुम आग को भड़काओगे और चेताओगे, जब कि तुम्हारा पिता दूध और तुम्हारा भाई मैं आग को बुझाते हैं।

मक्खन सोच में पड़ गया। उसे यह युक्ति सूझी तो सही कि मैं तो पाचन की अग्नि को मन्द करता हूँ, मन्दाग्नि में मेरा उपयोग वर्जित है। मठा मन्दाग्नि को कम करता है। इसलिए वह अग्निवर्धक है और मैं आग बुझानेवाला हूँ। पर उसे यह युक्ति तर्काभास जँची। वह पिघल गया और अग्नि में कूदकर पता नहीं उसने आत्महत्या की या मुक्ति प्राप्त की। ●

३०. जूता और टोपी

टोपी—जूते महाशय, बुरा न मानो तो एक बात पूछूँ ?

जूता—मैं बुरा क्यों मानने लगा! जो पूछोगी उसका जवाब दूँगा।

टोपी—आदमी तुम पर मुझसे कहीं ज्यादा खर्च करता है। फिर भी जितनी बेपरवाही वह तुम्हारे साथ करता है मेरे साथ नहीं करता। ऐसी कई जगह हैं जहाँ तुम्हारा प्रवेश वर्जित है। मेरा प्रवेश कहीं भी वर्जित नहीं। हाँ, कहीं-कहीं मैं सिर से बगल में आ जाती हूँ। पर यह तो किसी को आदर देने की निशानी है। मेरा अनादर नहीं है। तुम्हें बाहर उतरवाकर आदमी तुम्हारा अनादर करता रहता है। यह क्या बात है ?



जूता—जिसे तुम अनादर समझती हो, मैं उसे अनादर नहीं मानता। राजाओं के अंगरक्षक होते हैं। अगर कहीं उनका प्रवेश वर्जित है तो यह उनका अनादर नहीं है। सुरक्षा की गारण्टी है। जहाँ-जहाँ मेरा प्रवेश वर्जित है, वहाँ-वहाँ या तो सुरक्षा की गारण्टी है, नहीं तो आदर-दान की भावना है। अब रही खर्च की बात। सिर बुद्धिमान होता है। बुद्धिमान को त्यागी होना ही चाहिए। रही यह शंका कि राजागण करोड़ों का कीमती मुकुट क्यों धारण करते हैं ? सो अव्वल तो वे उसको सदा नहीं पहनते और फिर वे यदि कुछ कीमती चीज सिर पर रखते ही हैं तो वे कितने बुद्धिमान

होते हैं, यह किसीसे छिपा नहीं है। राज्य की जान वजीर या मंत्री होता है। उसका सिर इस मामले में इतना ही त्यागी होता है जितना बुद्धिमान त्यागी का।

टोपी—मेरी बहुत कुछ तसल्ली हो गई। एक ही शंका रह गई। वह यह कि तुम इतनी काम की चीज होते हुए बदनाम क्यों हो ? ऐसे मुहावरे क्यों चल पड़े—'औरत आदमी के पाँव की जूती है', 'मेरी जूती से', 'जूतियाँ चटखाते फिरना', 'बेभाव की पड़ेंगी तब मालूम हो जायेगा', 'जूता चल गया' इत्यादि।

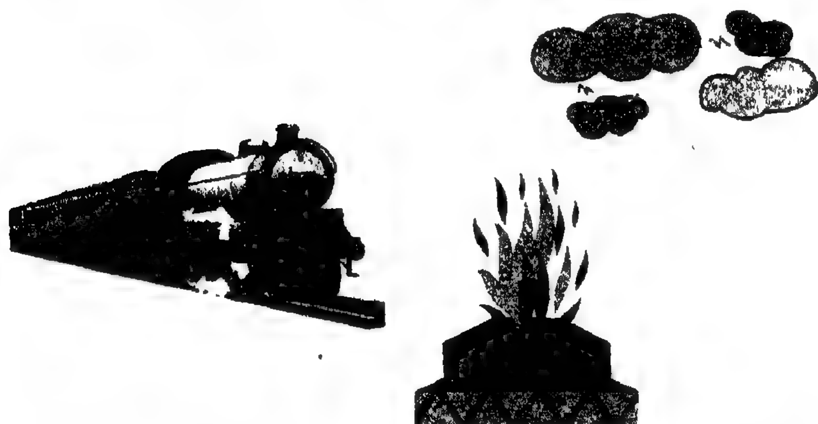
जूता—इसकी चिन्ता न करो। आदमी की सूझ ही तो है। वह तो यहाँ तक कह बैठता है कि यह 'बड़ा सिरफिरा आदमी है', 'बड़ा मुँहफट है', 'तोता चश्म है', 'सिरदर्द है' इत्यादि।

टोपी को यह सुनकर तसल्ली हुई। उसका अभिमान कम हुआ। उसने जाति पर जातियाँ ऐसी ढूँढ़ लीं जिनके सिर से सदा के लिए छुट्टी माँग ली और तभी से लोग नंगे सिर रहने में सुख का अनुभव करने लगे और मान का भी अनुभव करने लगे। ●

३१. आग और पानी

न जाने कब से आदमी आग को देवता मानता आया है। हो सकता है आदमी की यह मान्यता उसकी दाहक शक्ति देखकर हुई हो।

एक दिन आदमी इसी अग्निदेव की पूजा कर रहा था। जब उसमें घी की आहुति देता था तो अग्निदेव खूब प्रज्वलित हो उठते थे। यह भी कह सकते हैं कि अग्निदेव अपनी सातों जिह्वा निकालकर प्रफुल्लित हो जाते थे। उनके उस रूप को देखकर आदमी गद्‌गद हो उठता था। उन पर मुग्ध होकर उनकी प्रशंसा में उच्च स्वर से वेद-मंत्रों का उच्चारण करने लगता था। अग्निदेव इस चापलूसी से फूलकर कुप्पा हो जाते थे और अपनी



लपटें मंडप या लता-मंडप छुआने का प्रयत्न करने लगते थे। ऐसा होते-होते अग्निदेव आदमी की तरह बात करने लगे। बोले :

अग्निदेव—पंच भूतों में हम ही महाभूत हैं। यह सब हमारी माया है। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश सब हमारे दास हैं।

यह सुन आदमी नामी भक्त पूजक बोल उठा, 'सत्य वचन महाराज'!

घड़े में बैठे जल को अच्छा नहीं लगा। वह बिगड़कर बोल उठा :

जल—क्या कहा देवताजी महाराज ? फिर से तो कहिये ?

अग्निदेव—नीच, तुम्हें बीच में बोलने का क्या अधिकार ? तेरा तो नाम तक निम्नगा है और वह तेरे गुण के आधार पर रखा गया है। तू नीचे जाना पसंद करता है। नीच जो ठहरा।

जल—बादल कौन होते हैं ?

अग्नि—वे तो मेरे बल पर बने हुए होते हैं।

जल—तुम्हें पता है कि बिजली बादलों की बेटी है।

अग्निदेव—मुँह बंद रख नीच।

यह सुनकर कलश का सारा पानी हवनकुंड में जा गिरा। अग्निदेव ठण्ढे हो गये। जलदेवता का कुछ अंश अग्निदेव की छाती पर सवार रहा। कुछ अंश उड़कर अपने भाई बादलों के साथ मिल गया।

पूजक कुछ न समझ पाया। पास बैठे विज्ञानी ने दोनों की फूट को अच्छी तरह समझ लिया। दोनों देवताओं को रेलगाड़ी में जोत दिया। तभी से वे बैल बने काम में लगे हुए हैं। यह ठीक है दोनों (अग्नि और जल) आदमी से खार खाते हैं, नाखुश रहते हैं। आदमी को इसीलिए इनसे सतर्क रहना पड़ता है।



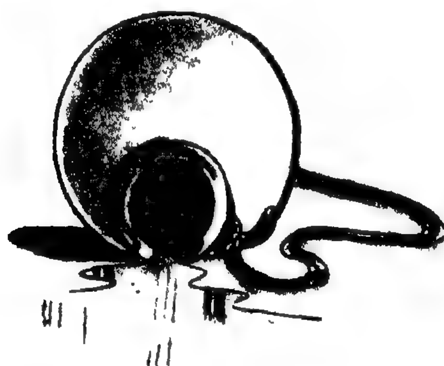
३२. घड़ा और पुनर्जन्म

एक दिन मैं घड़े से पूछ बैठा—तुम पुनर्जन्म में विश्वास करते हो ?

घड़ा बोला—न मैं जानदार हूँ और न आदमी।

मैंने कहा—अच्छा तुम यह बताओ कि तुम पुनर्जन्म चाहते हो ?

घड़ा बोला—बात एकदम सीधी सादी है। पुनर्जन्म से पहले होगा मेरा निर्वाण। यानी टुकड़े-टुकड़े हो जाना। आदमी की दासता से छूट जाना। गले में रस्सी का फंदा डालकर रोज-रोज कुएँ में से पानी निकालने की छुट्टी मिल जाना। आदमी के लिए पानी ठंढा रखने की सेवा से छुट्टी मिल जाना। थोड़े में असंख्य झंझटों से मुक्ति पा जाना और फिर आनन्दमय मूलावस्था प्राप्त कर लेना।



पुनर्जन्म का अर्थ होगा, फिर खुदना, पिटना, फिर चाक पर घूमना, फिर धूप में सूखना, फिर आवे में फुँकना, फिर बाजार में जाना, फिर सैकड़ों ग्राहकों के टुच्चु खाना। और फिर आदमी की सेवा में जुट जाना। अब आप ही बताइये कि मैं पुनर्जन्म क्यों पसंद करने लगा ? मेरे सिर ही वह आ पड़े तो मजबूरी है।

मैं घड़े की बातें सुनकर दाँतों तले अँगुली दाबकर रह गया। ●

३३. नाव और गाड़ी

नाव—गाड़ी देवी, तुम कल भी आई थी और आज फिर आ गई।

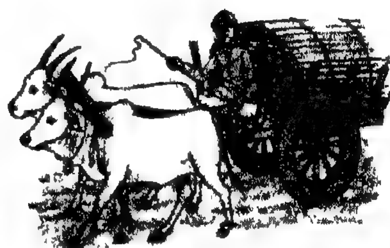
गाड़ी—मैं कल नहीं आई थी। मेरी कोई बहन रही होगी।

नाव—और परसों कौन आई थी ?

गाड़ी—मेरी बहन की कोई रिश्तेदार रही होगी, मैं तो आज ही आई हूँ।

नाव—आखिर तुम्हारा कुटुम्ब कितना बड़ा है ? मुझे तो रोज ही एक दो को इस पार से उस पार करना होता है और उसी तरह उस पार से एक दो को इस पार लाना होता है।





गाड़ी—तो क्या हुआ ? हमारी बहनों में से ही तो कोई तुम्हें यहाँ तक लाई थी। क्या तुमने सुना नहीं है कि कभी गाड़ी पर नाव और कभी नाव पर गाड़ी।

नाव—जो सुना है उससे तो सन्तोष है। उसके लिए कृतज्ञ भी हूँ। उस अहसान को चुकाते समय आनन्द भी माना था। पर अब यह कहावत चुभने लगी है। क्योंकि अब यह कहावत रूप ले बैठी है कि 'कभी गाड़ी पर नाव' और फिर सदा 'नाव पर गाड़ी'।

यह सुन गाड़ी चुप हो गई। नाविक कुछ सोचने लगा। नाव के यात्री मुसकरा दिये। ●

३४. मिट्टी का ढेला सर्वज्ञ बना

एक दिन देखा कि मिट्टी का एक ढेला अपने आप हिला। कुछ ही क्षणों में देखते-देखते कपूर जैसा सफेद हो गया। उसी ढेले ने अचानक इस तरह फूलना-पिचकना शुरू कर दिया मानो साँस ले रहा हो और फिर कुछ ही समय में फट पड़ा या यों कहिये कि खिलकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। मैं ठहरा विज्ञानी। उसके एक टुकड़े को साथ ले आया। घर आकर उसे डिबिया में बंद कर दिया।

काम से अवकाश मिलने पर मैंने उस डिबिया को अपनी मेज पर रखा। उसमें से ढेले को निकाला। उसे काले कागज पर रखा। उसकी जाँच करने लगा। देखता हूँ कि टुकड़ा बोलने लगा।



टुकड़ा—श्रीमान जी, आप मुझे क्या गौर से देख रहे हैं। आप मेरे बताये बिना मेरे विषय में कुछ न जान सकेंगे।

मैं पहले तो सकपका गया। पर जी कड़ा करके बोल पड़ा—हाँ-हाँ, तो सुनाइये आप अपनी कथा।

इस पर उस टुकड़े ने कहना शुरू किया :

''मैं साधारण चिकनी मिट्टी का एक डला था। एक साधु की देखादेखी मैं तपस्या करने बैठ गया। मेरी निष्काम तपम्या से परमात्मा प्रसन्न हुए। मेरे

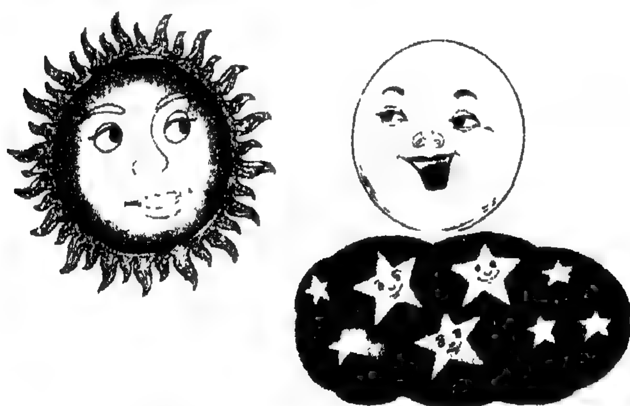
सामने आकर मुझसे बोले कि क्या चाहता है ? मुझे आव सूझा न ताव, मुँह से निकल गया कृपा कर मुझे सर्वज्ञता प्रदान कर दीजिये। ईश्वर तथास्तु कह ओझल हो गये। मैं सर्वज्ञ बन गया। अब मेरा यह हाल हुआ कि देखता हूँ कि मैं कभी सोने का डला हूँ और कभी भैंस का गोबर। जब सोने का डला हूँ तब फूल रहा हूँ; जब भैंस का गोबर हूँ, तो पिचक रहा हूँ। फिर न पूछिये। कभी मैं हीरे का टुकड़ा हूँ, कभी तालाब की कीचड़। कभी शेर दाँत हूँ, तो कभी बकरी के माँस का लूथड़ा। कभी घोड़े का सिर हूँ, तो कभी उसी का सुम। कभी फूल हूँ, कभी राख। कभी आदमी की आँख हूँ तो कभी उसी के पाँव का तलवा। इतना जो कुछ मैंने कहा, वह मुझ पर एक सैकिण्ड के कुछ भाग में बीत गया। दो सैकिण्ड में मैं घबरा गया। भगवान से प्रार्थना करने लगा कि मैंने छोड़ी यह सर्वज्ञता। इसे आप ही सम्भालिये। तीन सैकिण्ड प्रार्थना में जिस दु:ख के साथ बीते उसे मैं ही जानता हूँ। इसी बीच मैं जल कर सफेद हो गया। मालूम नहीं किस शक्ति ने मुझे बेहोश कर दिया। अचानक ऐसा मालूम हुआ कि किसी ने मुझे छींटा दिया। बस मैं एकदम फट पड़ा और फिर वही डले का डला बन गया। हाँ सफेद जरूर हूँ, पर अब मैं जानता कुछ नहीं हूँ। उसी डले का मैं टुकड़ा हूँ जो आपके सामने हूँ।"

उसके बाद वह टुकड़ा फिर कभी नहीं बोला और उस दिन के बाद से मैं अपने को चूने के पत्थर का विज्ञानी समझने लगा। उसी का व्यापारी बन बैठा हूँ, क्योंकि चूना अंधेरे कमरे को भी ईश्वर की तरह प्रकाश में ला खड़ा करता है।



३५. दिन और रात

पता नहीं दिन रात को पकड़ने दौड़ रहा है या रात दिन को पकड़ने दौड़ रही है। जब दिन आता है तो रात चल देती है। जब रात आती है, तो दिन का पिता सूरज समुद्र में डूब जाता है। दिन और रात में कौन पहले है और कौन बाद में, इस प्रश्न का उत्तर किसी ने दिया तो बड़ा सुन्दर है कि रात पहले। क्योंकि आज की रात कहकर हम उसके पहलेपन को सिद्ध कर देते हैं। पुराण और अंजील भी रात से दिन बनाते हैं। हो सकता है, जब दिन न था, तो रात का नाम रात न रहा हो। अन्धकार या ऐसा ही कुछ रहा हो। पर इतनी गहराई में हम क्यों जायें। हम तो रात और दिन दोनों को एक जगह बैठा हुआ पाते हैं और दोनों को इस तरह भागते देखते हैं।



रात—दिन, तुम खिन्न न होना। तुम मेरी बराबरी नहीं कर सकते। पृथ्वी तो जरा-सी है। आसमान कितना बड़ा है। उस सबको मैं तारों से जगमगा देती हूँ, जो दिन भर नीला-नीला रूखा, सुनसान पड़ा रहता है। रही पृथ्वी की बात, उसमें तुम्हारे रहते कोलाहल मचा रहता है। दु:ख ही दु:ख दिखलाई देता है। मैं आकर उन दु:खी प्राणियों को आराम देती हूँ, कोलाहल दूर करती हूँ, उनको थपकियाँ देकर सुलाती हूँ। चन्द्रमा मेरी शान है। वह जड़ी-बूटियों पर अमृत बरसाता है। फल-फलादि, सब्जी-

तरकारी सभी तो उससे फलती फूलती है। धरती का सागर मेरे चन्द्रमा को देखकर आनन्द से उमड़ उठता है। खिलखिलाकर हँसने लगता है। रातभर भजन-पूजन करो। शास्त्र में इसके विपरीत विधान नहीं है। दिन में भजन-पूजन के समय नियत हैं। फिर तुम किस तरह अपने को बड़ा कह सकते हो ?

दिन—तुम्हें कुछ पता है, तुम क्या कह गई ? जिस चाँद की तुम शेखी बघारती हो, वह तो मेरे टुकड़ों पर पलता है। तुम्हारे ऊपर यह कहावत चरितार्थ होती है 'मेरे ही घर से आग लाई, नाम रख दिया (वैश्वानर)'। मैं तो मैं, मेरे आने की खबर सुनकर तुम्हारे चमकते तारे न जाने कहाँ बिला जाते हैं। उन कायरों की रानी, तुम अपने को मुझसे बड़ा कहती हो ? मेरे टुकरखोर चन्द्रमा की औरत (चन्द्रमा का नाम है रजनीपति) तुम इतनी बड़बोली कब से हो गई ? जानदार दिन को श्मशान में बदलनेवाली तुम अपने को मुझसे बड़ी समझती हो। कहाँ मैं और कहाँ तुम!

रात—तुम्हारे कोसने से या गुस्सा होने से मेरे बड़प्पन को कोई धक्का नहीं पहुँचता। सारे पुराण और धर्मशास्त्र गवाह हैं कि तुम अनादि नहीं हो, सादि हो। अर्थात् हमेशा से नहीं हो। माना कि तुम्हें उसने पैदा किया, जिसे लोग जगत का मालिक समझते हैं, पर यह भी तो सोचो कि उसने तुम्हें पैदा किसमें से किया। तुम्हारा सूरज, जिसकी तुम शेखी बघारते हो, एक वैसा ही तारा तो है जिससे मेरा राज्य जगमगाता है।

दिन—ठहरो-ठहरो, सुनो, ज्ञान न बघारो। सूरज पर रात नहीं होती। न किसी तारे पर रात होती है। हाँ तुम्हारे पति चन्द्रमा पर रात भी होती है और दुबले होने की बीमारी भी होती है।

दोनों की बात अभी खत्म भी न हो पाई थी कि आदमी ने आकर उन दोनों को फटकारा। बोला—लड़ोगे तो दोनों सबकी नजरों में गिर जाओगे। मिलकर रहोगे तो सबकी नजरों में उठ जाओगे। तुम दोनों ही जरूरी हो, तभी तो साथ-साथ घूम रहे हो। सात फेरों में लड़के लड़की जीवन भर के लिए बँध जाते हैं। तुम तो न जाने इस अवतारधारिणी वसुन्धरा के कितने फेरे लगा चुके हो। अब तुम कैसे अलग हो सकते हो ? ●

३६. लकड़ी और मेज

(संस्कृति का अभिमान मूर्खता का अभिमान)

लकड़ी का एक टुकड़ा रोज देखता कि मेज के पाये मुझसे बने हैं। मेज का तख्ता मुझे ही चिकना करके बनाया गया है। सिर से पैर तक मेज लकड़ी ही है, यानी मैं ही हूँ। मुझमें और इसमें कोई अन्तर नहीं है। हाँ, इसके पाये खराद पर छिले हैं। रेगमाल से रेते गये हैं। इन पर पॉलिश की गयी है। यही हाल ऊपर के तख्तों का है। कहीं-कहीं मेज में लोहे की कीलें ठुकी हैं। कहीं कुछ और इस तरह के जख्म हैं कि जो कभी नहीं भर सकते। पर यह भली मानस है कि खुश है। न जाने आदमी इस भोंडी शकल को क्यों खूबसूरत मानता है और आये दिन क्यों इसकी झाड़-पोंछ करता रहता है।

इधर मुझ लकड़ी के टुकड़े का यह हाल है कि मैं एक कोने में डाल दिया गया हूँ। कोई पूछा-गाछा ही नहीं है। आदमी ने मेरे ऊपर कम मेहनत नहीं की। मेरे बाप पेड़ को काटा। उसकी खूबसूरती को नष्ट किया, जिस पर लट्टू था। जिस पेड़ की शान में इसने काव्य लिखे थे, उसी की शान किरकिरी कर दी।



इसे प्रकृति का शृंगार पसंद ही नहीं आया। प्रकृति ने न जाने किस मेहनत से कितने दिन लगाकर मेरे पिता का संस्कार किया था। पर यह सब आदमी को बिलकुल न भाया। उसने कुल्हाड़ी चलाकर छाल अलग की। आरा चलाकर मेरे जैसे बोटे तैयार किये। यानी अपने ढंग से मेरा संस्कार किया। मुझे सुसंस्कृत बनाया और अब मुझे कोने में डाल दिया है। किसी दिन मेज को भी कोने में पटक देगा। आदमी के संस्कृति-प्रेम का कुछ पता ही नहीं चलता। खुदाई में मिली पुरानी मेजों के लिए अजायबघर नाम से इमारतें खड़ी करता है और अपनी पुरानी मेज को कबाड़ में बेच

डालता है। एक दिन मेज से पूछना चाहिए कि उसके मन में कैसे विचार उठते हैं।

उस दिन मालिक शहर से बाहर गया हुआ था। घर सुनसान था। उस दिन लकड़ी के बोटे और मेज में बड़े प्यार से बातें होने लगीं।

बोटा—जीजी मेज, क्या हाल है ?

मेज—खासा हाल है। तुम देखकर तो मुझे भाग्यशाली समझती होगी। आये दिन मैं झाड़ी-पोंछी जाती हूँ। कभी-कभी मुझे हवा और धूप भी दी जाती है। पर मुझे तो यह सब जख्मों पर नमक छिड़कने जैसा लगता है।

बोटा—(कानों को विश्वास न हुआ) वह कह उठा—क्या कहा जीजी ?

मेज—यही कि मुझे वह सब अच्छा नहीं लगता जो मेरे साथ किया जाता है। मुझे वे दिन याद आते हैं, जब मैं जंगल में थी। जंगल में तो मैं आदमी के लिए थी। मैं अपने लिए तो अपने शहर में थी। आज मैं अपने लिए बियाबान में हूँ। यहाँ तुम्हारे सिवाय मेरा कौन है ? तुम्हें देखकर जंगल की याद हरी हो जाती है। यहाँ अपनी साथिनें किवाड़-चोखट हैं, पर वे अपने दुःख में दुःखी हैं। झाड़ा-पोंछा उन्हें भी जाता है। कभी तूफान में उन्हें हिलने का अवसर मिल जाता है। पर वह भी पूरा कहाँ मिल पाता है। कहाँ वह खुली हवा का झूमना और कहाँ यहाँ क्षण-क्षण में दीवार से टकराना। फिर भी इनका झूमना मुझे अपने जंगल नामी शहर की याद दिला देता है। आदमी के लिए यह शहर हो सकता है। हमारे लिए तो सुनसान मरुस्थल है।

बोटा—तो यह बात है ! तुम मुझसे भी ज्यादा दुःखी हो। यह आदमी खुद तो हिन्दू संस्कृति, वैदिक संस्कृति और न जाने किस-किस पुरानी संस्कृति की डींग हाँकता रहता है, पर हमारी वन-संस्कृति, वृक्ष-संस्कृति को नष्ट करता रहता है। जब कि हमारी पुरानी संस्कृति के वर्णन से इसके ग्रंथ भरे पड़े हैं।

अभी ये बातें हो ही रही थीं कि मेज की दराज में से खुटर-पुटर की आवाज आई। बोटे और मेज दोनों के कान चौकन्ने हो गये। थोड़ी देर में उसमें से एक चूहा जो किसी तरह दराज में बंद हो गया था, ज्यों त्यों काटकर बाहर कूदा और यह कहता हुआ बिल में भाग गया कि **संस्कृति का अभिमान करना मूर्खता का अभिमान करना है।** ●

२८.२.६०

३७. आदमी का मूल गुण ?

(आदमी औलाद बढ़ा सकता है, आदमी पैदा नहीं कर सकता!)

मैं जड़ी-बूटियों और वृक्षों के पास गया। उनसे पूछा कि क्या बात है कि तुम्हारे सब बीज वैसा ही पेड़ उगाते हैं, जैसे तुम हो। स्थानान्तर होने पर भी कम-ज्यादा तुम्हारे मूल गुण बने रहते हैं। जलवायु का असर होता जरूर है, पर इतना नहीं कि तुम्हारे गुणों में धरती-आकाश का अन्तर पड़ जाय। अब यह बताओ कि तुम अपनी सन्तान को किस तरह पालते-पोसते हो ? कैसे शिक्षा देते हो ? दीक्षा देने का क्या प्रबंध है कि तुम्हारी सब सन्तानें हमेशा तुम्हारा नाम रोशन करती हुई पाई हैं।

वृक्ष बूटियों ने हिल-डुल कर अपनी भाषा में मेरे सवाल का जवाब तो दिया, पर मैं कुछ समझ न पाया।

मैं कीड़े-मकोड़ों के पास पहुँचा। उनसे मैंने कहा कि हम मनुष्यों को अपनी औलाद से जैसी और जितनी शिकायत है, वैसी और उतनी शिकायत तुम्हें अपनी सन्तान से न कभी रही, न है, न कभी हो सकेगी। कारण यह कि तुम्हारे गुण इनमें आ जाते हैं। बताओ तो तुमने इस सबके लिए क्या प्रबंध कर रक्खा है ?

कीट-पतिंगों ने अपने सिर हिलाकर अपने छोटे-छोटे पंख उठाकर, किसी ने गुनगुना कर, किसी ने टिलटिला कर, किसी ने टर्रा कर, किसी ने झंकार कर जवाब तो दिये, पर मेरी समझ में न आ सके।

मैं रपटलियाँ के पास गया। जैसे-छिपकली, गोह आदि। उनसे भी ऐसा ही प्रश्न किया। उत्तर मिला। पर समझ में कुछ न आया। पक्षियों के पास गया। पशुओं के पास गया। बन्दरों के पास गया। शेर-चीतों के पास गया। सब जगह जवाब मिला। उनके चेहरों, उनके हाव-भाव से इतना अनुमान भी हुआ कि वे सन्तोषप्रद उत्तर दे रहे हैं, पर मतलब की कोई बात पल्ले न पड़ी।

मैंने बहुत सोचा कि सारे कुत्ते मालिक के वफादार होते हैं। सब ही शेर बहादुर होते हैं, सभी घोड़े कहीं भी अपना रास्ता ढूँढ़ लेते हैं। कबूतर का तो यह हाल है कि जहाँ उसका बाप हो आया है वहाँ उसका बेटा रास्ता दिखाये बिना पहुँच जायेगा। इतनी अच्छी तालीम का कोई न कोई प्रबंध तो होगा और ये सब बताते हुए मालूम भी होते हैं, फिर मेरी समझ में क्यों नहीं आता। मेरी आत्मा बोल उठी, 'क्या तुम समझते हो कि प्रकृति ने तुम्हारे लिए वैसा प्रबंध नहीं किया ?'

मेरा मन बोल उठा—हे आत्मन् ! तुम्हारे कहने से ऐसा विश्वास तो हो रहा है कि हम मनुष्यों के लिए कोई प्रबंध अवश्य रहा होगा, पर मैं मनुष्यों में देख यह रहा हूँ कि सत्यवादी की सन्तान महा झूठी और महा झूठे की सन्तान सत्य हरिश्चन्द्र को भी मात करनेवाली। महा अहिंसक को सन्तान पूरी हिंसक और महा हिंसक की सन्तान पूरी अहिंसक। इसी तरह चोर की साहूकार, साहूकार की चोर। सुशील की कुशील, कुशील की सुशील और परिग्रही की अपरिग्रही। अपरिग्रही की परिग्रही हो रही हैं। फिर तो आपकी बात समझ में आती है न, उस पर विश्वास कर बैठने की हिम्मत होती है।

आत्मा—हे मन, तुम न कीट-पतंगों को समझ पाये, न पशु-पक्षियों को। ज्यादा अच्छा हो यदि तुम मनुष्यों का ही अध्ययन करो।

मन—क्या मतलब ?

आत्मा—यही कि मनुष्य की उन जातियों का भी अध्ययन करो जिन्हें कुछ ने असभ्य और जंगली समझ रखा है। जो सभ्य कहलानेवाले संसार से जितने ज्यादा अलग-थलग हैं उनकी सन्तानें उतनी ही ज्यादा गुणों के साथ उत्पन्न होती हैं, जो उनके माँ-बाप में हैं। वे असत्य भाषण नहीं करते। वे चोरी नहीं करते। एक दृष्टि से परिग्रही नहीं हैं। वे संयमी हैं और शीलव्रती हैं। उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वे हिंसा करते हैं, और हिंसक हैं। उन्हें हिंसा करने के लिए मजबूर होना पड़ता है। उनसे हिंसा हो जाती है। नर-हत्या यानी मनुष्यहत्या से वे एक तरह बचे हुए ही हैं। इसलिए उन्हें अहिंसा-व्रतधारी कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। कुछ भी हो, धर्म के मूल गुण सभ्य समाज से कहीं ज्यादा उन जंगलियों

और असभ्यों में पाये जाते हैं। जाओ और उनका विधिवत् अध्ययन करो। तुम्हें ठीक-ठीक उत्तर मिल जायेगा।

आत्मा की सीख गाँठ बाँध मैं जंगली जातियों के अध्ययन में लग गया। उन्होंने अपनी भाषा में, कुछ ने कृत्यों से, कुछ ने इशारों से मुझे समझाने की कोशिश की कि क्यों उनकी सन्तानें इतनी गुणवाली होती हैं, जितने वे खुद हैं। पर मैं समझकर भी कुछ न समझ पाया। लौटकर फिर आत्मा की शरण में पहुँच गया।

मन—हे आत्मन् ! समझ में आता है और समझ में नहीं भी आता। क्या हम सबको अपना गुण बनाये रखने के लिए जंगली और असभ्य अवस्था फिर अपनानी होगी ?

आत्मा—होगी तो, पर उसे न जंगली कहा जायेगा, न असभ्य। जंगलियों का औरत-मर्द का नाच जंगली और असभ्य कहलाता है। शहरी औरत-मर्दों का नाच शहरी और सभ्य कहलाता है। पर यह सवाल अभी सामने नहीं है। इस समय प्रश्न यह है कि आदमी क्यों अपने मूल गुण खोता जाता है, क्यों उसकी सन्तान उसके गुणों को पूरी तरह नहीं अपनाती और क्यों पशु और जंगली जातियाँ उस क्रम को ज्यों का त्यों बनाये हुए हैं ? इस बारे में तुमने क्या समझा ?

मन—हाँ, इसी प्रश्न का तो मैं उत्तर पाना चाहता हूँ। इसी की खोज करने तो मैं जंगली जातियों के बीच में रहा।

आत्मा—और फिर भी तुम्हें पता न लगा। क्या पशुओं के पास पुराण हैं ? नीति-ग्रन्थ है ? आचार-शास्त्र है ? भाषा है ? लिपि है ? लिखित विधान है ? कुछ भी ऐसा है ?

मन—बिलकुल नहीं या बहुत कम। तो क्या हमारी उन्नति ही अवनति का कारण है ?

आत्मा—क्या झूठ बोलना उन्नति है ?

मन—नहीं, बिलकुल नहीं।

आत्मा—क्या पुराण और क्या सभ्य समाज का सब कथा-साहित्य झूठ या मिथ्या नहीं है ?

मन—(हिचकिचाते हुए) झूठे (मिथ्या) तो हैं भगवान् !

आत्मा—क्या पुराण और कथा-साहित्य को मनुष्य-समाज की उन्नति कहा जा सकता है ?

मन—इसका क्या उत्तर दूँ ? इसमें दोष क्या है ?

आत्मा—इसमें दोष यह है कि हमने इनमें अपने बाप-दादाओं को वैसा दिखलाया है जो वे थे नहीं और न आदमी कभी उस अवस्था को पहुँच पायेगा।

मन—आत्मन् ! आदर्श तो ऊँचा ही होना चाहिए।

आत्मा—ऊँचा, पर न पहुँच सकनेवाला ऊँचा नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि आदमी कथाएँ सुनकर उस आदर्श तक पहुँचने के लिए जी-तोड़ कोशिश करता है। वह असफल रहता है। इसलिए वह पिछड़ जाता है। जनसाधारण इसी में भला समझते हैं कि वे अपने उन बाप-दादाओं को पूज लें या उनका गुणगान कर लें, जो आदर्श को कभी नहीं पहुँच पाये, पर जो पुराणों में आदर्श तक पहुँचे हुए बताये गये हैं।

मन—एक समाज है, जो पुराणों को नहीं मानता। पर उसने कोई उन्नति नहीं की।

आत्मा—उसने अपने स्वामी या महापुरुष को आदर्श पुरुष बना दिया।

मन—हाँ, यह तो हुआ। पर पुराण छोड़ दसियों ऐसी बातें हैं, जो मनुष्य की उन्नत अवस्था की कथाएँ सुना रही हैं।

आत्मा—वे कथाएँ ही तो यह कह रही हैं कि आदमी ने या सभ्य आदमी ने इस दुनिया का ईश्वर नामक एक मालिक तैयार किया और फिर खुद ईश्वर बना। वह ईश्वर तो नहीं बन पाया। ईश्वर नहीं बन पाया यह इतना बुरा तो नहीं था जितना ईश्वर बनने की दौड़-धूप में वह आदमी भी न रहा। **आदमियत खो बैठा और खोता चला जा रहा है और समझता है कि उन्नति की ओर दौड़ा चला जा रहा है।** अब शेर ही बहादुर शेर पैदा कर सकते हैं। कुत्ते ही वफादार कुत्ते पैदा कर सकते हैं। घोड़े ही घोड़े पैदा कर सकते हैं। गायें ही गौमाताएँ पैदा कर सकती हैं। **आदमी औलाद बढ़ा सकता है, आदमी पैदा नहीं कर सकता।**

●

[महात्मा भगवानदीनजी के दैनंदिन चिन्तन के कुछ विचार-सूत्र]

चिन्तन-सूत्र

१. किसी ने भी बचपन और बचपन के साथ की आजादी तथा उछल-कूद को खोये बिना जवानी नहीं पायी। इसी तरह कोई भी घर-गृहस्थी के शिष्टाचार को धूल में मिलाये बिना आज की नामधारी साधुता को प्राप्त नहीं कर सकता।

२. सूरज को क्या पता कि मेरे पीछे घोर अँधेरा भी घूम रहा है। इसी तरह अहिंसात्मक शांति के प्रचारक को क्या पता कि उसके पैरों से लगी हिंसात्मक क्रान्ति भी साथ-साथ चली आ रही है।

३. दीये से दीया जरूर जलता है, पर दीये से जला हुआ दीया जलता ही रहेगा, यह समझना भूल है। जलते रहने का सम्बन्ध दीये से नहीं, स्नेह से है।

४. हे मन, तू नाम कमाने की कोशिश कर। यह कोई बुरी बात नहीं। पर यह अच्छी तरह ध्यान में रख ले कि जैसे-जैसे तेरा नाम होगा, वैसे-वैसे तेरा काम पीछे पड़ता चला जायेगा।

५. डोरे में गाँठ लगाये बिना पट की सिलाई हो तो सकती है, पर वह टिकेगी नहीं। इसी तरह रीति-रिवाज के डोरे में अनुभव से प्राप्त सत्य निष्ठा की गाँठ लगाये बिना जो भी समाज को एक करना चाहता है, वह या तो अपनी उम्र में ही उसको टुकड़ों में बँटा देख लेगा, नहीं तो उसकी आँख बन्द होने के बाद समाज बुरी तरह बिखर जायेगा।

६. एक गृहस्थ का सच्चा रहन-सहन समाज पर जितना गहरा असर छोड़ जाता है, उतना गहरा असर दस अनगारी साधु नहीं छोड़ सकते।

७. मनुष्य मनुष्य की बहादुरी से जितना गहरा असर हासिल करता है, उतना शेर की बहादुरी से नहीं। आदमी शेर की बहादुरी से जितना आत्मविभोर हो उठता है, या अचरज में पड़ जाता है, उतना आदमी की बहादुरी से नहीं। एक करने की चीज है, दूसरी देखने की।

८. कोई छुटाई-छुटाई नहीं है अगर मेरी अपनायी हुई है। कोई बड़ाई-बड़ाई नहीं है अगर मुझ पर थोपी गयी है। छुटाइयाँ बड़ाइयाँ जो अखर रही हैं उनका कारण यही है कि वे न अपनायी हुई हैं और न कमाई हुई हैं। वे तो सिर आ पड़ी हैं।

९. एक भी बुराई ऐसी नहीं जो समाज की किसी जरूरत को पूरा न करती हो। फिर वह दूर हो तो हो कैसे ? समाज के लिए टाट भी जरूरी और गेहूँ भी। अगर मैं टाट में नफा देखूँ और गेहूँ में टोटा तो मैं टाट के काम में क्यों न लगूँ ? और मेरी देखादेखी दूसरे ऐसा करने लगें तो कहाँ भूल करते हैं ? इसलिए समाज का धर्म होना

चाहिए कि वह बुराइयों को कभी अनुचित आदर प्रदान न करे। तभी बुराइयाँ काबू में रह सकती हैं।

१०. काम अनगिनत हैं, पर काम करने की रीतियाँ सीमित हैं। अगर तुम्हें कुछ रीतियों पर भी पूरा अधिकार हो गया है तो तुम किसी भी काम को जल्दी सीख सकते हो और उसके माहिर हो सकते हो।

११. अगर तुम्हें अपना बड़प्पन सम्हालना पड़ता है तो वह बड़प्पन टिक न सकेगा और अगर तुम्हारा बड़प्पन सम्हला हुआ है तो वह अटल बना रहेगा।

१२. मैं राजा हूँ तब भी वही हूँ। मैं रंक हूँ तब भी वही हूँ। इसी ज्ञान का नाम तत्त्वज्ञान है और इसी का नाम धर्मज्ञान है।

१३. समुद्र से यदि तरंगें छीन ली जायें यानी ऊँचाई-नीचाई छीन ली जाय तो वह क्या रह जायेगा, कौन जाने ! यही हाल समाज-सागर का भी है।

१४. चार में चार जोड़ने पर आठ हो जाते हैं। यानी चार और चार आदमी मिलकर आठ हो जाते हैं। चार को चार से गुना करें तो सोलह हो जाते हैं। यानी चार आदमी और दूसरे चार आदमी अपने गुणों और साधनों को मिला लें तो सोलह आदमियों जितना काम कर सकते हैं। चार और चार दायें-बायें बैठकर चौवालीस हो जाते हैं। यानी चार और चार आदमी मिलकर एकमेक हो जायें तो वे चौवालीस आदमी का बल प्राप्त कर सकते हैं। चार घात चार या चार बल चार २५६ होते हैं। यानी चार आदमी दूसरे चार आदमियों को अपने सिर या कंधे पर बिठा लें यानी उनका आदर-सम्मान करने लगें तो उनकी ताकत २५६ आदमियों जितनी हो जायेगी। जापान और जर्मनी छोटे-छोटे देश हैं। पर वे अपने लोगों का आदर करना जानते हैं। रूस और अमेरिका जर्मनी और जापान को आदर की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें महत्वपूर्ण देश समझते हैं।

१५ दो रेखाएँ समानान्तर दौड़कर जगह न घेर पायेंगी। अगर जगह घिर ही गयी तो वह उनकी मेहनत का परिणाम नहीं होगा। उसका कारण होगी भूतल की परिस्थिति। ठीक इसी तरह देश के दो संगठन या दो बलवान व्यक्ति या अनेक संगठन या अनेक बलशाली व्यक्ति समानान्तर दौड़कर कोई ठोस काम नहीं कर पायेंगे। और अगर उनसे कोई ठोस काम हो ही जाय तो वह उनका किया हुआ नहीं समझा जायेगा। वह परिस्थितियों का किया हुआ समझा जायेगा। ज्यादा ठीक यही है कि समानान्तर और स्वतन्त्र न दौड़कर एक-दूसरे की तरफ झुककर दौड़ा जाय, तो बड़े ठोस काम हो सकते हैं।

१६. जिसने आलस को जीत लिया, उसने सब कुछ जीत लिया।

१७. जिसे ढूँढ़ना आता है, उसे ढूँढ़ने कहीं नहीं जाना पड़ता और जो ढूँढ़ने निकलते हैं, वे कहीं कुछ ढूँढ़ नहीं पाते।

१८. जगह दो, जगह मिलेगी, क्योंकि जगह बहुत है।

